॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

भारतवर्ष का इतिहास

और

जैन धर्म

सम्पादक—

भागमल्ल मौदगल ।

प्रकाशक—

मन्त्री, श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी

अम्बाला शहर

वीर सं० २४५४ | आत्म सं० ३३ | मूल्य [illegible] आना | विक्रम सं० १९८५ | ईस्वी सन् १९२८

दो शब्द

पिछले थोड़े ही दिनों से भारत वर्ष के इतिहास ने बहुत से विज्ञ लेखकों का ध्यान आकर्षित कर रक्खा है। कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और संभव है अभी और भी लिखी जा रही हों। किसी ने राष्ट्रीय पाठशालाओं के लिये राष्ट्रीय दृष्टि से इतिहास लिखना कर्त्तव्य समझा तो किसी को हाइस्कूलों में किसी देशीय भाषा के (उर्दू या हिन्दी) शिक्षा का माध्यम होजाने ने पुस्तक लिखने के लिये प्रेरित किया। किसी ने छोटे बच्चों के हृदयों में इतिहास के लिये रुचि उत्पन्न करने के लिये कथाओं के रूपमें भारत के इतिहास का संकलन किया तो किसी ने भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास लिखना ही अत्यावश्यक समझा। इन सभी सज्जनों का प्रयत्न स्तुत्य है। वह अपने परिश्रम में कितने सफल हुये हैं इस का निर्णय सुज्ञ पाठकों के हाथ में है।

परन्तु एक त्रुटि तो प्रायः सभी इतिहासों में देखी जारही है। वह यह है। "कि प्रायः सभी विद्वानों ने जैन धर्म के विषय

में जो कुछ लिखा है वह अशुद्ध और भ्रमोत्पादक है। इस का कारण उन का जैन धर्म अथवा समाज से विद्वेष नहीं कहा जा सकता। किसी पर निष्प्रयोजन ही "हृदय-संकीर्णता" का दोषारोपण करना पाप है। परन्तु हम समझते हैं कि बहुत अंशों में जैन धर्म, समाज और साहित्य का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किये बिना ही यथाशक्ति उसका वर्णन करना इन भूलों के लिये उत्तरदायी है।

पिछले दो सालों में हमें ऐसी कई भारत-इतिहास की पुस्तकें देखने का अवसर मिला है। सभी ने अपनी २ योग्यतानुसार जैन धर्म का उपयुक्त शब्दों में वर्णन किया है, और करना भी चाहिये था क्योंकि यह एक ऐसी बात है कि बिना इस का परिचय कराये कोई पुस्तक सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती। परन्तु सभी के विचार प्रायः अपरिपक्व और संशयात्मक ही पाये गये। यही प्रतीत हुआ कि विद्वान लेखकों ने इस विषय में पूर्वीय अथवा पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों को जिन को उन्हों ने प्रगाढ़ परिश्रम के पश्चात् निर्धारित किया है अवलोकन नहीं किया, और नाहीं उन्हों ने स्वयं किसी जैन विद्वान से इन बातों के जानने की आवश्यक्ता समझी। इतना ही क्यों उन्हों ने सर्व साधारण को सुविदित दो चार सच्ची बातों से भी लाभ उठाना उचित नहीं समझा।

हमें पुस्तकें देख कर बड़ा दुःख हुआ। पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा भारतीय विद्वानों की इन कृतियों पर हमें अधिक दुःख हुआ। हम ने यह उचित समझा कि इन सज्जनों की सेवा में सामग्री पहुँचाई जावे जिससे इन के विचारों का परिमार्जन हो सके। सन्तोष है कि हमें अपने परिश्रम में सफलता ही मिली है अर्थात् सभी लेखकों ने पुनरावृत्ति के समय इन त्रुटियों को दूर कर देने का वचन दे दिया है और एक दो के तो संशोधित संस्करण निकल भी चुके हैं। अगले पृष्ठों में ऐसी ही कुछ पुस्तकों का परिचय कराया जायगा। हमारा अभिप्राय इस से केवल यही है कि इतिहास प्रेमी सज्जनों को वस्तुस्थिति से परिचय हो जाय।

अन्त में हम यह भी निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि यदि कोई सज्जन जैनधर्म का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से हम से कभी कोई बात पूछना चाहें तो हम यथा शक्ति उन की सेवा करने में अपना अहोभाग्य समझेंगे।

इस अवसर पर हम सहर्ष अपने परम मित्रों—विद्या वारिधि श्रीयुत् चम्पतराय जी, बैरिस्टर, हरदोई; श्री अजित-प्रसाद जी, एम० ए०, लखनऊ; श्री जगमन्दिरलाल जी *

*हमें यह लिखते हुये अति दुःख होता है कि १३ जुलाई, १९२७ को जैन समाज का यह परम उज्ज्वल रत्न उस के हाथों से सदा के लिये छिन गया है। शोक!

एम० ए०, इन्दौर तथा लाला कन्नोमल जी एम० ए० धौलपुर से कृतज्ञता प्रकट करते हैं, क्योंकि इसी विद्वन्मण्डली की सहायता और प्रोत्साहना से हमें बहुत कुछ सफलता मिली है। प्रार्थना है कि वे सभा पर सदा इसी भाँति कृपा बनाए रक्खेंगे।

विनीत

मन्त्री,

श्री आत्मानन्द जैन सभा,

अम्बाला शहर।

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
१	हाईरोड्स आव् इंडियन हिस्टरी–बुक सेकन्ड	१
२	भारतवर्षका धार्मिक इतिहास-पं० शिवशंकर मिश्र	७७
३	दास्ताने हिंद (हिस्सा अव्वल) मक़बूलशाह व महम्मद नाज़र	८४
४	भारतवर्ष का इतिहास–पं० रघुवर प्रसादजी द्विवेदी	९०
५	भारतवर्ष का इतिहास–लाला लाजपतराय जी	१००
६	भारतवर्ष का इतिहास—प्रथम भाग, श्री ब्रजमोहन शर्म्मा	११

श्री वीतरागाय नमः

भारतवर्ष का इतिहास

और

जैन धर्म

१--हाई रोड्स आव इंडियन हिस्टरी-बुक सैकंड।

यह पुस्तक अंग्रेजी भाषा में है। इसके लेखक हैं मि० एच० एल० ओ० गैरट, एम० ए०, आई० ई० एस०, प्रोफ़ेसर गवर्नमेंट कालिज, लाहौर और चौधरी अब्दुलहमीदखां एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेंट कालिज गुजरात। और प्रकाशक है लाहौर की प्रसिद्ध फर्म अतरचंद कपूर एंड संज़। पुस्तक अंग्रेज़ी स्कूलों में अंग्रेज़ी भाषा पढ़ाने के लिये लिखी गई है और पंजाब प्रांत के शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत है।

पुस्तक बहुत बढ़िया कागज़ पर सुन्दर टाइप में विलायत में छपी है। कहीं २ सुन्दर और आवश्यक चित्र भी दिये हैं। जिल्द भी सजीली है।

इस की एक प्रति हमें फर्वरी १९२५ में प्राप्त हुई। पुस्तक

में अन्य विषयों के साथ जैनधर्म के संबंध में भी कुछ लिखा हुआ था (देखो परिशिष्ट नं० १)। लेखक महोदयों को छोटे बालकों को "श्री भगवान् महावीर स्वामी और जैनधर्म" का साधारण परिचय कराना ही अभीष्ट था। परन्तु इस चार पृष्ठ के छोटे से लेख में भी अनेक अशुद्ध और भ्रमोत्पादक बातें थीं, अतः इस विचार से कि छोटे बालकोंके कोमल और स्वच्छ हृदय पर कोई मिथ्या संस्कार न बैठ जावे हमने उचित समझा कि विज्ञ लेखकों को वस्तुस्थिति से परिचित करके उन्हीं से इसका संशोधन कराया जावे। हमने दोनों सज्जनों की सेवा में प्रार्थना की। परन्तु शोक है कि उन्होंने उसका कोई उत्तर न दिया। उन्होंने ऐसा क्यों किया यह हम नहीं कह सकते।

जब हमने इस तरह काम निकलता न देखा तो अपनी उस चिट्ठीको छपवाकर पंजाब और मध्यप्रांत में वितरण करने का निश्चय कर लिया जिस से सर्वसाधारण को इस लेख के दोषों का ज्ञान हो जावे। उस चिट्ठी की अक्षरशः नकल नीचे दी जाती है।

SHRI ATMANAND JAIN SABHA,

AMBALA CITY.

MARCH 10th, 1925.

To,

The Minister of Education, the Director of Public Instruction, Deputy Directress of Public Instruction,

all Deputy Commissioners, Divisional and District Inspectors of Schools, Inspectresses of Schools, Headmasters of Anglo Vernacular Board Secondary Schools, Managers of aided and unaided schools, in the Punjab and C. P., the Superintendent Borstel Institution, Lahore, and the Secretaries Text Book Committees, Punjab and C. P.

SIR,
MADAM,

I have the honour to bring to your kind notice the publication noted below with the criticism of that portion of the book which deals with the Jainism, running thus:—

"Highroads of Indian History--Second book (School Series) by H. L. O. Garret, M. A., I. E. S. and Ch: Abdul-Hamid Khan, M. A., Principals of Govt. Colleges, Lahore and Lyallpore respectively, published by M/s Uttar Chand Kapur and Sons, Lahore."

"As it was necessary the authors have devoted some three pages to Jainism also, giving therein the life of Mahavira-its founder, as they say. But this account, we can safely say, is entirely unfounded, misleading, wrong, dealt with in a tone seriously injurious to the religious feelings of the Jain Community and bound to lead the public and the students to form a wrong idea about the religion.

The following are the few points out of many which are quite wrong, objectionable and worthy of re-consideration:—

1. "We shall tell the story of Mahavira, who founded Jainism. (page 12, lines 12, 13).

2. He joined an order of Monks founded by Parsvanath. (page I2, last line).

3. He remained a member of the order for several years, but could not obtain peace of mind. So when he was about forty years of age he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own, called Jainism (page 13, para 1st).

4. He did not believe in God. (page 13, line 16).

5. That lifeless objects possess soul (page 14, line 3).

6. Both the sects have their own sacred books and are on very bad terms with each other. (page 14, lines 11-12).

7. In course of time they have begun to worship the images of their twelve Ginnas-leaders (page 14 lines 13, 14).

8. Their monks and nuns hang a piece of cloth over their mouths so that insects present in the air may not be breathed in and killed. (page 15,para 1)."

Now we shall deal with the points seriatim:—

1. It is quite wrong according to the Jaina history as well as foreign authors. Mahavir was not the

founder of Jain religion, but the 24th and the last Tirthankara. We quote below from the foreign writers:—

a. Mrs. Sinclair Stevenson, M. A., Sc. D. Dublin says in her book-The Heart of Jainism:—

"Parsvanath, the Tirthankar, who immediately preceeded Mahavira, may also have been a historical person. Very probably he did something to draw together and improve the discipline of the homeless monks, who were outside the pale of Brahmanism much as St. Benedict did in Europe. If so, he was the real founder of Jainism, Mahavira being only a reformer who carried still further the work that Parswanath had begun." (page 48, para 1).

b. "Mahavira was not an originator, he merely carried on, with but slight changes, a system which existed before his time, and which probably owes its most distinguishing features to a teacher named Parsva, who ranks in the succession of Jinas as the predecessor of Mahavira."--Encyclopaedia Britannica, XI edition, Vol. XV. page 127, first column.

But according to the Jainas the founder of their religion, in this half cycle of time. (see foot note) was Rishabhdeva, the first of their 24 lords

---

[Note] The Jaina belief is that the world is eternal. They have divided the time into two parts Utsarpini kal (time of progress) and avsarpini kal

(Tirthankaras), although their version is that their religion is eternal.

2. The Tirthankars [Jinas] do not become the disciple of any second person. They themselves obtain omniscence by meditation and then preach the same doctrines as their predecessors [previous Tirthankars] did. Parsvanath was the predecessor of Mahavira and the parents of the latter were the followers of the order of Parsvanath hence it follows that Jainism existed even before him and Mahavira was born of a Jaina family. At the age of 30 he rununciated everything and began practising penances and meditations as a Jaina Monk, on the same lines as Parswanath, the 23rd Tirthankara and his 22 predecessors did.

3. It is altogether wrong and baseless. Mahavira never joined and so could never give up any order. He never founded any system of his own. But after obtaining omniscence independently preached the same tenets as were preached by his predecessors. So the question of his giving up the order at the age of 40 and founding a religious sytem of his own does not arise but is obvious rather that Jainism did exist

---

(time of decline) and then have again subdivided those parts into 6 parts called 6 Aras. In the third and fourth aras of the Utsarpini and avasarpinikal there happen to be 24 Jinas or Tirthankaras hence 48 in a complete cycle.

here even before Mahavira,as can be seen from the two quotations given above from Mrs. Sinclair Stevenson and the Encyclopaedia Britannica.

4. Jainas do belive in God but not as the Creator or the Destroyer of the Universe. According to them any soul may obtain perfection and thus become God.

5. The lifeless objects do never possess soul. There exist two clear divisions of animate and inanimate objects in the Jaina philosophy. Inanimate objects do never possess soul. They believe as Sir J. C. Bose and other modern scientists have begun to believe.

6. Both the sects have their own sacred books, no doubt, but treating with the same philosophy and history in different languages; Swetamberas mostly in Prakrit and the Digambaras in Sanskrit.

But the ensuing remarks of the learned authors are quite objectionably and needlessly passed.Can the authors safely quote the names of any two branches of a religion where the trifling disputes are not going on temporarily or permanently ? But has any historian ever dared pass such remarks, or would one dare now when the feeling of the Hindus and the Mohammadans are rising so high against each other,especially when writing a book like this to be taught in schools, as a supplementary reader ? Can they quote

a word or so from the books of either of them persuading the followers of the one to find fault with the other ? No and never, they can not quote any such line as in the following lines the worthy authors contradicted their allegations themselves. They say:—

"A Jaina is careful of life in every form. He tries to respect the feelings of his neighbours in every possible way. " [page 14, lines 18 to 20.]

"The teachings of Jainism are binding upon every person of whatsoever degree. The main principle is "Do your duty. Do it as humbly as you can. " [page 15 lines 11-14.]

On the contrary,in spite of some cases in courts regarding their sacred places, the followers of both the sects are generally on friendly terms. They partake in the religious and social affairs of each other with out the least hesitation. Hence the authors are not ustified in this remark of theirs.

7. The authors are wrong even in saying that the Jainas began to worship the images after Mahavira. They did such worship even before him. Of it there can be given many instances from ancient history. This is the popular belief of all the image worshippers.

As to the second part of the statement this is quite a new invention of the authors. Much and quite abseless has been said at different times against Jain-

ism,but this is quite a new thing. History,popular belief and Jaina version convey that the Jainas worship their 24 Jinas or Tirthankaras and not 12 as the authors say.

8. No doubt one sub-sect of the Jainas does so, but the other two do not, hence this is not the general practice, the idea which the words seem to give. The others keep a piece of cloth, folded like a handkerchief in hand,to be put in front of their mouth when speaking.

In contradicting the statements of the learned authors we implore their indulgence to please publish an addenda corrigenda to the book to save the students and the general public from forming a wrong idea about this religion-the chief aim of writing books. Any other point, which the gentlemen will please refer to us will be gladly explained to them.

Our request is that the book should not be introduced in any school and if already introduced in any school, the headmasters will please discontinue it and that the book should be struck off the list of books prescribed for use in schools, until the authors correct the above statements regarding Jainism.

I have the honour to be,
SIR,
Your most obedient Servant,
(*Sd.*) *GOPI CHAND B. A., Vakil,*
President.

Copy forwarded to the Editors of the papers in the Punjab and C. P. with the request that they would be gracious enough to please publish this letter in their respective papers.

GOPI CHAND B. A., Vakil

President.

इसका भावार्थ इस प्रकार है :—

आवश्यक होने के कारण लेखक महानुभावों ने जैन-धर्म के विषय में भी तीन चार पृष्ठों का लेख लिखा है। उस में उन्हों ने अपने मन्तव्यानुसार जैन-धर्म के मूल प्रवर्तक श्री महावीर स्वामी का चरित्र वर्णन किया है। परन्तु हम यह जोर से कह सकते हैं कि यह लेख अप्रामाणिक, भ्रमोत्पादक और जैन समाज के धार्मिक भावों को ठेस लगानेवाला है। इस से जनता और विद्यार्थियों को इस धर्म का ठीक २ परिचय नहीं हो सकता।

नीचे कुछ ऐसी बातें दी जाती हैं जो सर्वथा अशुद्ध, आपत्तिजनक और पुनः विचारणीय हैं :—

१—"हम जैन-धर्म की नीव डालनेवाले महावीर की कथा लिखते हैं।"

२—"वह पार्श्वनाथ के टोले के साधुओं में मिल गये।"

३—"वह कई साल तक इस टोले में सम्मिलित रहे परन्तु उन को मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई, अतः जब उनकी आयु ४० साल के लगभग थी, उन्होंने इस टोले से अपना

सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। और जैनधर्म के नाम से एक नया धर्म चलाया।"

४—"वह परमात्मा को नहीं मानते थे।"

५—"प्राणरहित (अजीव) वस्तुओं में भी आत्मा है।"

६—"दोनों सम्प्रदायों की अपनी धार्मिक पुस्तकें हैं और दोनों ही एक दूसरे के कट्टर शत्रु हैं।"

७—"कुछ समय के पश्चात् उन्होंने अपने १२ जिनों (तीर्थंकरों) की मूर्तियों की पूजा करना आरम्भ कर दिया।

८—"इनके साधु और साध्वियाँ अपने मुँह को कपड़े के एक टुकड़े से ढके रखते हैं, जिस से हवा में के कीड़े श्वास के साथ अन्दर जाकर न मरें।"

अब हम इन आक्षेपों पर एक २ कर के विचार करेंगे:—

१-जैन इतिहास और पाश्चात्य विद्वानों के मत से यह बात असत्य है। महावीर भगवान जैन-धर्म के मूल प्रवर्तक नहीं, परन्तु २४ वें वा अन्तिम तीर्थंकर थे। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति देखिए:—

(क) श्रीमती सिंकलेयर स्टीवनसन एम० ए० एस० सी० डी० डबलिन अपनी पुस्तक "हार्ट आव् जैनिज़्म" में क्या कहती हैं:—

"तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी जो महावीर से पहिले हुए ऐतिहासिक व्यक्ति हो सकते हैं। बहुत सम्भव है कि उन्हों ने ब्राह्मण-मत की सीमा से बाहिर के यति समुदाय को मर्यादा

में सम्बन्ध करने के लिए यूरोप के महात्मा बेनीडिक्ट की तरह बहुत कुछ कार्य किया हो। यदि ऐसा है तो जैन धर्म के वही मूल प्रवर्तक होंगे और भगवान् महावीर स्वामी तो एक सुधारक मात्र हुए हैं, जिन्होंने पार्श्वनाथ के कार्य को समुन्नत किया।" (पृष्ठ ४८, पै० १)

(ख) महावीर (भगवान्) मूल प्रवर्तक नहीं थे, उन्होंने तो केवल कुछ थोड़ा सा परिवर्त्तन कर के एक ऐसे मत की वृद्धि की जो उन के समय से पहिले विद्यमान था और जिस के मूलोपदेशक भगवान् पार्श्वनाथ थे जोकि तीर्थंकरों की सूची में भगवान् महावीर से पहिले हुए हैं।" (एनसाईकलो पीडिया ब्रिटैनिका ११ वो संस्करण, १५ वों पुस्तक, पृष्ठ १२७ पहला कालम)

परन्तु जैनों के मन्तव्यानुसार काल के इस अर्द्धचक्र ❀ में भगवान् ऋषभदेव ने जो २४ तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं, पहले पहल जैनधर्म का उपदेश दिया। साथ ही यह भी उनका मत है कि उनका धर्म अनादि है।

❀—जैन मतानुसार सृष्टि अनादि है। उन्हों ने काल के दो भाग किये हैं:- उत्सर्पिणी अथवा उन्नतिका काल और अवसर्पिणी अथवा अवनतिका काल। और इन दोनों को फिर छः छः भागों में विभक्त किया है जिन को आरे कहते हैं। इन में से तीसरे और चौथे आरे में २४ तीर्थङ्कर होते हैं अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल को मिला कर एक पूरे चक्र में ४८ तीर्थङ्कर होते हैं।

२-तीर्थंकर भगवान् किसी दूसरे पुरुष के शिष्य नहीं हुआ करते। वे तपस्या कर के स्वयं ही केवल ज्ञान को प्राप्त करके अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर के ही सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ महावीर स्वामी से पहले हुए और उनके माता पिता भगवान् पार्श्वनाथ के मत के अनुयायी थे। इस से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर से पहिले जैनधर्म का अस्तित्व था और उन्होंने जैनकुल में ही जन्म लिया था। ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने सब कुछ त्याग दिया और वे भगवान् पार्श्वनाथ आदि पहले तीर्थंकरों की भाँति जैन मुनि रूप में तपस्या करने लगे।

३-यह सर्वथा असत्य और आधार रहित है। महावीर किसी टोले में सम्मिलित नहीं हुए, अतः उन्होंने किसी टोले को नहीं छोड़ा। उन्होंने अपना कोई मत नहीं चलाया परन्तु स्वाधीनरूप में केवल ज्ञान प्राप्त कर के उन्होंने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के सिद्धान्तों का ही उपदेश दिया। अतः ४० वर्ष की अवस्था में उन का एक मतका त्याग और दूसरे की स्थापना का प्रश्न ही नहीं रहता और यही प्रमाणित होता है कि जैनधर्म उन से भी पहले भारतवर्ष में फैला हुआ था।

४-जैन परमेश्वर में विश्वास रखते हैं। उन के सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सृष्टि का कर्त्ता अथवा संहर्त्ता नहीं है और कोई भी आत्मा पूर्णोन्नति कर के परमात्मपद को प्राप्त कर सकती है।

५-अजीव पदार्थों में आत्मा नहीं हुआ करती। जैन फिलास्फी में पदार्थों के जीव और अजीव स्पष्ट दो भेद हैं। उन का विश्वास ठीक वैसे ही है जैसे कि अब सर जगदीशचन्द्र बोस और दूसरे वैज्ञानिक मानने लगे हैं।

६-निःसंदेह दोनों संप्रदायों की अपनी २ धार्मिक पुस्तकें हैं, परन्तु भाषामात्र का भेद है और विषय तो दोनों में एक ही प्रतिपादन किये गये हैं। श्वेतांबरों की पुस्तकें प्रायः प्राकृत में हैं और दिगंबरों की संस्कृत में।

परन्तु लेखकों के अगले शब्द बड़ेही आपत्तिजनक और अनावश्यक हैं। क्या लेखक महानुभाव किसी भी धर्म की ऐसी दो शाखाओं का नाम लेसकते हैं जिनमें साधारण रूपमें छोटी २ बातों पर झगड़े नहीं होते रहते? तो क्या कभी किसी ऐतिहासिक ने इस प्रकार के शब्द कहने का दुस्साहास किया है? या क्या कोई आजकल कर सकता है जबकि हिंदू मुसलमानों में एक दूसरे के विरुद्ध इतना जोश फैला हुआ है और विशेष कर स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली किसी पुस्तक में? क्या यह बतायेंगे कि श्वेतांबरों अथवा दिगंबरों की पुस्तकों में से कहीं एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने झगड़ने का उपदेश दिया गया है। नहीं;कदापि नहीं? तो क्या आगे जाकर यह कहने में कि "एक जैन सब जीवों की रक्षा करता है। वह सब प्रकार से अपने पड़ोसी के भावों का सन्मान करता है" और जैनधर्म की

शिक्षा सभी श्रेणियों के जैनियों के लिये मान्य है। उनका सब से बड़ा सिद्धान्त है:—"जितनी अधिक विनय से संभव हो सके अपना कर्तव्य पालन करो।" पूर्वापर विरोध तो नहीं आ जाता ?

इस के विरुद्ध परस्पर तीर्थ सम्बन्धी झगड़े होने पर भी दोनों संप्रदायों के अनुयायियों में मित्रता है, प्रेम है। वह आपस के धार्मिक और सामाजिक कार्यों में निःसंकोच भाग लेते हैं, अतः लेखकों का यह कथन सर्वदा अनधिकार चेष्टा है।

७–सुज्ञ लेखकों का यह कहना कि जैनियों ने भगवान् महावीर स्वामी के पश्चात् मूर्त्ति पूजा आरम्भ की–वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है। वे उनसे पहले भी ऐसा करते थे। प्राचीन इतिहास से इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं। और लगभग सभी मूर्त्ति पूजकों का ऐसा ही विश्वास है।

परन्तु उनके कथन का दूसरा भाग लेखकों की सर्वथा नई खोज है। जैन धर्म के विरुद्ध वैसे तो बहुत कुछ कहा जा चुका है, परन्तु ऐसा आजतक कभी किसी ने नहीं कहा। इतिहास, साधारण विश्वास और जैनधर्म तो २४ तीर्थङ्कर ही बतलाता है १२ नहीं।

८–निःसंदेह जैनों की एक शाखा ऐसा करती है, परन्तु बाकी दो नहीं, अतः इन शब्दों से यह न समझना चाहिये कि सभी ऐसा करते हैं। बाकी दोनों अपने हाथ में कपड़े का

टुकड़ा रखते हैं, बोलते समय जिसे वह अपने मुख के सामने कर लेते हैं।

विद्वान् लेखकों के इस लेख पर टीकाटिप्पणी करने से हमारा अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इसे शुद्ध कर दिया जावे जिससे जनता में इस धर्म के विषय में मिथ्या-ज्ञान न फैल जाये। विज्ञ लेखकों से हमारी यही प्रार्थना है कि वह शुद्धिपत्र छपवादें और यदि वे हम से इस सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहें तो हम हर समय उनके प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार हैं।

हमारी दूसरी प्रार्थना यह है कि यह पुस्तक स्कूलों में न पढ़ाई जावे और जब तक यह ठीक न हो जावे इसे स्कूली पुस्तकों की सूची में स्थान न दिया जावे।

भवदीय—

गोपीचन्द बी० ए० वकील

प्रधान

यह छपी हुई चिट्ठी कई विद्वानों की सेवा में भी भेजी गई, परन्तु खेद है कि मात्र दो चार सज्जनों ने ही इसका समुचित उत्तर देकर हमें प्रोत्साहन दिया। नीचे उनके पत्रों का भाव दिया जाता है:——

१–श्रीयुत विद्यावारिधि मि० चम्पतराय जैन बैरिष्टर।

हरदोई। ता० ३–३–२५

"जयजिनेन्द्र! आपका २७–२–२५ का पत्र मिला, हाई–

रोड्स की पुस्तक की हास्यास्पद अशुद्धियों का आपने जो उत्तर दिया है वह भी देखा। दुर्भाग्य से इस प्रकार के लेख बहुत हैं और मैं उत्तर लिखते २ तंग आगया हूं। मेरी सम्मति में इसका उपाय यह है कि Key of Knowledge, the Practical Path और The Confluence of Opposites जैसीपुस्तकों का खूब प्रचार किया जावे। आप एक २ व्यक्ति के लेखों को कहां तक शुद्ध करायेंगे। यदि वह धन जिसे हम मुफ़्तमेंबाज़ी में लुटा रहे हैं, इस प्रकार की पुस्तकों के प्रचार में लगाया जावे तो हम अद्भुत कार्य करके दिखा सकते हैं। तथापि आप ने अच्छा किया जो लेखकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।.....

२—श्री अजितप्रसाद जी, *M. A. L. L. B.*

लखनऊ १३-३-२५।

"गैरट की हिस्टरी सम्बन्धी आपके छपे पत्र के लिये धन्यवाद! .....आपका उद्यम प्रशंसनीय है। तथापि हमें स्थायीरूप में एक संस्था स्थापित करनी चाहिए जो जैनधर्म पर किये गये या किये जा रहे आक्षेपों का समुचित विरोध किया करे।"

३—श्री कन्नोमल जी एम० ए० जज, धौलपुर।

"जैनधर्म पर किये गये मिथ्या आक्षेपों के प्रतिवाद-रूप में प्रकाशित आप का पत्र मिला।

जहांतक जैनधर्म सम्बन्धी मुझे ज्ञान है आपके उत्तर ठीक हैं।..... आपके उत्तरों में मैं कोई वृद्धि नहीं करना चाहता।

यह बड़े शोक का विषय है कि विद्वान् लेखकों ने जैनधर्म के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकाशित कराने से पहले किसी ऐसे विद्वान् से सम्मति नहीं ली जिसे जैनधर्म का कुछ भी परिचय हो। इस प्रकार के अशुद्ध और नितान्त झूठे लेखों से बड़ी हानि होती है, अतः शुद्धसत्य की खातिर ही उनको पाठ्य पुस्तकों में से निकलवा देना चाहिये। आप का प्रयास सर्वथा श्लाघनीय है।....."

बहुत से जैन और अजैन पत्रों के साथ २ जैनपथ-प्रदर्शक आगरा ने भी मितीचैत वदी ८, संवत् १९८१ विक्रम को अपने पत्र के पृष्ठ ४०८ पर निम्नलिखित नोट प्रकाशित किया:—

"आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला ध्यान दे।

उक्त सभा के सभापति श्री गोपीचन्द्र जी वकील ने एक नोटिस पंजाबप्रांत के शिक्षाविभाग के पदाधिकारियों को इस आशय का दिया है। अमर (अतर) चन्द कपूर लाहौर वालों ने जो भारतका इतिहास स्कूलों में पढ़ाने के लिये प्रकाशित किया है उसमें जैनधर्म के सम्बन्ध में भ्रम से कुछ ऐसी २ बातें प्रकाशित की हैं जिनके कारण जैनधर्म को बहुत धक्का लगा।

सभापति महोदय ने उस इतिहास में से ८ बातें ऐसी छांटकर उस नोटिस में रक्खी हैं जिनसे जैनधर्म की अधिक हानि होगी। आपने आठ बातों का उत्तर भी अच्छी तरह से उस नोटिस में दिया है, जिसको हम स्थान के अभाव से इस समय प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। यदि अवसर मिला तो आगामी किसी अङ्क में प्रकाशित करेंगे परन्तु हम आत्मानन्द जैनसभा अम्बाला के मन्त्री-पदाधिकारियों का ध्यान ७ वें सवाल के उत्तर की ओर खैंचते हैं, जिसमें उन्हों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि जैन मूर्तिपूजक हैं। हम उक्त सभा के पदाधिकारियों से यह पूछना चाहते हैं कि यदि आपके इस उत्तर का खण्डन श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संसार लिखकर पंजाब प्रांत के शिक्षाविभाग के अधिकारियों के पास भेजदें तो आपकी इन दूसरी बातों का क्या प्रभाव उन पर पड़े। ऐसे अवसरों पर कुछ विचार और विवेक के साथ काम लेना चाहिये। संतोष की बात तो यह होती जिस प्रकार मुखपत्ति के सम्बन्ध में जो उनके आठवें सवाल का उत्तर आपने दिया है उसी तरह से देते। हमें आशा है और पूर्ण भरोसा है उक्त सभा के पदाधिकारी इस पर ज़रूर ध्यान देंगे। हम नहीं चाहते कि हम ऐसे महत्व भरे हुये सुधार के कार्यों में किसी तरह का झगड़ा उपस्थित करें। परन्तु हम अन्त को उसी श्रेणी में हैं जिस श्रेणी में आप हैं। इसी कारण से हमको भी अपने धर्म का अभिमान है जैसाकि आप

को। यह हमने माना कि हमारी समाज में इस समय जीवन नहीं है। इससे वह सब सह रही है परन्तु उसकी इस कमज़ोरी से आप समान जीवन रखनेवालों को इस प्रकार लाभ उठाना किसी तरह से भी उचित नहीं है।"

हमें यह नोट देखकर कुछ खेद हुआ। हमने निम्नलिखित उत्तर भेजना ही निश्चित किया जो 'प्रदर्शक' के वैशाख वदी ७ बुधवार सं०१९८२ के अङ्क में पृष्ठ ३४० पर यूँ छपा है:-

"ध्यान दिया"

आत्मानन्द जैनसभा अम्बाले का पत्र

[प्रिय महाशय! जयजिनेश्वरदेव!]

जैन पथ प्रदर्शक ता० १८-३-२५ पृष्ठ ३०८ पर आपका नोट, जो आपने हमारी सूचनार्थ लिखा है, देखा। इसके लिए हम आप के आभारी हैं।

परन्तु खेद है कि हमारे लेखों से आपको दुःख हुआ, और वह भी अकारण! हमने यह काम अन्यमतियोंके अनुचित आक्षेपों से जैन धर्म की रक्षा के निमित्त ही किया। हम इस बात को खूब समझते हैं कि ऐसे सुअवसरों पर घर में ही फूट डालना बुद्धिमत्ता नहीं।

आप लिखते हैं कि हमने ७ वें सवाल के उत्तर में यह साबित करने की कोशिश की है कि जैन मूर्तिपूजक हैं। हम कहना चाहते हैं कि आप को भ्रम हुआ। हम नीचे मूल पंक्तियां ही लिखे देते हैं।

"The Jains are not supposed to believe in caste, but in modern times we find them as particular about it as anyother Hindus. They are divided into two sects,Svetambara, or white robed, and the Digambara, or naked. Both the sects have their own sacred books and are on very bad terms with each other.

In course of time they have begun to worship the images of their twelve ginnas (leaders), though there is one division of the Svetambara, the Sthanakvasis, who reject the worship of images".

अर्थः-जैनों का जातिभेद में विश्वास नहीं तथापि उन में आजकल इस का इतना ही रिवाज है जितना दूसरे [हिन्दुओं में। इन के दो भेद हैं :—

श्वेताम्बर-सफ़ेद कपड़ा पहिननेवाले, और दिगम्बर, अर्थात् नग्न रहनेवाले। दोनों की अपनी २ धार्मिक पुस्तकें हैं और दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं।

कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने अपने १२ जिनों की मूर्तियां बनाकर पूजना आरम्भ कर दिया, यद्यपि श्वेताम्बरों की एक ऐसी शाखा स्थानकवासी भी है कि जो मूर्तिपूजा से इनकार करती है।"

इन पंक्तियों में लेखक ने यह बात ठीक ही कही है कि

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन मूर्तिपूजक हैं और स्थानकवासी नहीं। फिर इस बात पर उन के साथ मत्थापच्ची करने से क्या लाभ? झगड़ा तो इस बातका है कि उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों पर यह दोषारोपण किया है कि उन्होंने महावीर स्वामी के पश्चात् मूर्तिपूजा आरम्भ की। हम कहते हैं कि नहीं वे पहले से करते थे, क्योंकि मूर्तिपूजक जैनियों का ऐसा ही विश्वास है।

आप अब स्वयं ही समझ लेंगे कि हमारा उत्तर कहां तक सत्य, पक्षपातरहित और सरल है। और आपका उपालम्भ कहां तक उचित है?

परन्तु इस से बढ़कर खेद की बात है कि आपने यह लिखते हुए भी कि "१-सभापति महोदय ने इस इतिहास में से ८ बातें ऐसी छांट कर उस नोटिस में रक्खी हैं जिनसे जैन धर्म की अधिक हानि होगी। आपने ८ बातोंका उत्तर भी अच्छी तरहसे उस नोटिस में दिया है।" २-हम नहीं चाहते हैं कि हम ऐसे महत्व भरे हुए सुधार के कार्यों में किसी तरह का झगड़ा उपस्थित करें।" हमारे लेख को अपने पत्र में स्थान न दिया और अगले किसी अंक में, वह भी यदि अवसर मिला तो, छापने को कह दिया। क्या ही अच्छा होता यदि आप हमारे लेख को छाप देते, चाहे साथ में अपना यह नोट भी देते। यद्यपि हमारा विश्वास है कि इस

नोट को छापने की आवश्यक्ता न थी क्योंकि पहिले पत्र द्वारा हम से पूछ लेना उचित था।

अन्त में हम आपसे प्रार्थना करना चाहते हैं कि आप इस प्रकार के जैनधर्म की रक्षा के कार्यों में हमारा साथ दें क्योंकि हम जैनी पहिले हैं, श्वेताम्बर, दिगम्बर या स्थानकवासी बाद में। यदि एक भाई अपने कुटुम्ब की रक्षा केलिए किसी शत्रु का मुकाबिला करता है तो दूसरे भाई को उस का साथ देना चाहिए न कि शत्रु पर अपने कुटुम्ब के छिद्र प्रगट करना क्योंकि ऐसे सौदे में दोनों को घाटा रहेगा। आप के लेख से प्रतीत होता है कि आपका ऐसा संकल्प था। कृपया इस सङ्कल्प को सदा के लिए छोड़ दीजियेगा।

भवदीय—

गोपीचन्द वकील, प्रधान।"

इस के साथ ही सम्पादक महोदय का नोट भी देखने योग्य है। आप ने लिखा है :—

"नोट—हम आपके शुभविचरों का हृदय से स्वागत करते हैं और ऐसे शुभ कामों में हम आपकी हर प्रकार से सहायता करने को तैयार हैं परन्तु हम यह बता देना उचित समझते हैं कि अन्याय और पक्षपात का साथ हम किसी तरह भी नहीं देसकते। हमतो यह मानते है कि आप हमारे भाई हैं परन्तु काम तो जबही चले जब आप भी हमको अपना भाई समझें। जबतक ऐसा नहीं होगा हमारा सुधार नहीं होगा-(संपादक)"

हाईरोड्स--पुस्तक के प्रकाशकों ने भी हमारे पत्र के उत्तर में एक लम्बा चौड़ा पत्र (देखो परिशिष्ट नं० २) छापकर उन्हीं लोगों तक पहुंचाया जहां कि हमारा पत्र गया था।

इस पत्र में उन्होंने हम पर यह दोष लगाया कि हमने यह काम जल्दी में और किसी स्वार्थी की कुप्रेरणासे उनको हानि पहुंचाने के भाव से किया है। हम उनको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि इसमें ऐसी कोई बात नहीं थी।

१२ तीर्थंकरों वाली बात को तो वह अपने इस उत्तर में छोड़ ही गये हैं। परन्तु हां बाकी बातों के विषय में उन्हों ने अपने पहले ही लेख की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। वह कहते हैं कि जैनसिद्धान्त चाहे कुछ ही क्यों न हो उनको तो केवल उन्हीं बातों से प्रयोजन है जो इतिहास की कसौटी पर परखी जा चुकी हैं? उन्हों ने श्री जोगिन्द्रलाल (जगमन्दिर लाल) जी की Outlines of Jainism का भी आश्रय लेना चाहा है।

उत्तर देने को तो इसका भी दिया जा सकता था परन्तु हमारे कई एक मित्रों यथा श्री चम्पतराय जी तथा ला० श्यामचन्द्रजी बी० एस सी०, पी० ई० एस०, हैडमास्टर गवर्नमेंट हाईस्कूल जालन्धर शहर ने हमें यह सुसम्मति दी कि बहस को न बढ़ाकर प्रकाशकों से मिलकर निपटारा कर लिया जावे। यदि वे इस लेखको जैन सिद्धान्तानुसार शुद्ध करदें तो फिर किसी प्रकार के आन्दोलन की आवश्यकता

नहीं। उन्होंने कुछ शुद्धियां भी लिख भेजीं जो परिशिष्ट नं० ३ में दी गई हैं।

उधर लाला श्यामचन्द्र जी ने पुस्तक-प्रकाशकों से मिलकर उनसे यही बात कही कि वे अपने इस लेख को निकालकर दूसरा शुद्ध लेख दे दें। हमें प्रसन्ता है कि वे इस अपने प्रयत्न में सफल हुये और प्रकाशक महानुभाव ने इसे सहर्ष स्वीकार कर अपनी सौजन्यता का प्रमाण दिया।

इधर ला० श्यामचन्द जी और उनके परममित्र ला० परमानन्द जी सेठ एम० ए० इनकम टैक्स अफसर-जालन्धर ने नया लेख तैयार किया। उधर से पञ्जाब के शिक्षाविभाग के डाईरैक्टर का भी उत्तर आगया। जिसमें उन्होंने स्कूलों को तो यह आज्ञादी कि वह लेख न पढ़ाया जाय और पुस्तक प्रकाशकों को लिखा कि वे अपने इसलेख को "श्री आत्मानन्द जैन सभा (अम्बाला शहर)" के पत्रानुसार शुद्ध करें। और पुस्तक में छापने से पहले टैक्स्टबुक कमेटी से स्वीकृत करालें। (देखें परिशिष्ट ४, ५)

अतः वह लेख लाला शामचन्द्र जी ने प्रकाशकों को दे दिया। उन्होंने लेखक से अनुमति लेकर टैक्स्टबुक कमेटी में और कमेटी के मन्त्री ने हमारे पास इस अभिप्राय से भेज दिया कि हम उसे अच्छी तरह देख लें और अब भी यदि परिवर्त्तन किसी की आवश्यकता हो तो करा लें।

हम ने तीनों आम्नायों के विद्वानों से सम्मति माँगी और उनके बतलाए अनुसार फेर फार करके कमेटी को अपनी स्वीकृति दे दी।

पुराना अशुद्ध लेख निकाल कर पुस्तकों में नया शुद्धलेख दे दिया गया है। वह नया लेख परिशिष्ट ६ में दे दिया गया है। साथ ही परिशिष्ट ७ में वह लेख भी दे दिए गए हैं जो हमें प्रकाशकों के पत्र के उत्तर में प्राप्त हुए थे और आशा है कि अन्य लेखकों को भी इन से जैनधर्म और सिद्धान्तों का बहुत कुछ परिचय मिलेगा।

इस अवसर पर हम सहर्ष अपने परम मित्रों और सहायकों जिनकी शुभनामावली नीचे दीजाती है-इस सफलता पर बधाई और उनके कष्ट के लिये धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और आशा करते हैं कि वे सदा इसी भांति हमपर कृपा दृष्टि बनाये रखेंगे:--

१-विद्यावारिधि श्री चम्पतराय जी बैरिस्टर, हरदोई
२-श्री जगमन्दिरलाल जी एम० ए० जज; इन्दौर
३-श्री अजितप्रसाद जी वकील, लखनऊ
४-श्री कन्नोमल जी एम० ए०, धौलपुर
५-श्री शामचन्द्र जी, जालन्धर शहर
६-श्री परमानन्द जी सेठ, जालन्धर शहर

७–श्री केशवलाल जी प्रेमचन्द जी मोदी वकील,
अहमदाबाद।

८–मुनि श्री सुभद्रविजय जी जिन्होंने इस आन्दोलन में बहुत कुछ योग दिया और।

९–सर जार्ज ऐण्डरसन बहादुर, एम० ए०, सी० आई० ई०, डाइरेक्टर शिक्षा विभाग पञ्जाब के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि हमारी इस सफलता के बहुत अंश में वे ही कारण हैं।

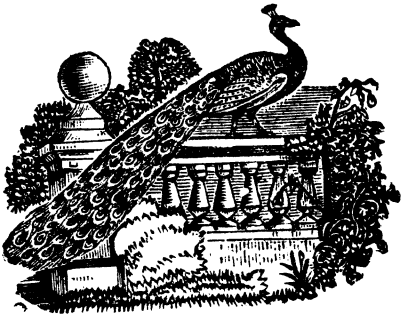

परिशिष्ट नं० १

THE FOUNDER OF JAINISM.

MAHAVIRA.

Two of the great religions of ancient India—Buddhism and Jainism—were both founded by men of noble birth who gave up their lives of comfort and devoted themselves to religion. Gautama founded Buddhism, and in this chapter we shall tell the story of Mahavira, who founded Jainism.

Vardhamana Mahavira was a noble of the Lichchavi tribe who inhabited the country round the modern Patna. He was of a thoughtful nature, and being disgusted with the world, he joined an order of monks founded by Parsvanath.

He remained a member of the order for several years, but could not obtain peace of mind. So when he was about forty years of age he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own called Jainism.

He travelled through modern Bengal an Behar preaching his doctrines to the people. Being of noble

birth he was well received by the ruling Kings of these countries. This made it easier for him to win converts to his religion.

His religious order consisted of monks and nuns, besides laybrothers and lay sisters who waited upon them.

He did not believe in God, and he rejected the idea that only men and animals had souls. According to him, even trees, stones, air and water were capable of feeling and were affected by pain and pleasure like living creatures.

The main teaching of Jainism is the doctrine of Ahinsa, that is, to do no hurt to any kind of life. The belief that even lifeless objects possess souls makes the Jains even more careful about the protection of life than the Buddhists.

The Jains are not supposed to believe in caste, but in modern times we find them as particular about it as any other Hindus. They are divided into two sects, the Svetambara, or white robed, and the Digambara, or naked. Both the sects have their own sacred books and are on very bad terms with each other.

In course of time they have begun to worship the images of their twelve Ginnas (leaders), though

there is one division of the Svetambara, the Sthanak--Vasi, who reject the worship of images.

A Jain is careful of life in every form. He tries to respect the feelings of his neighbour in every possible way. He is expected to exercise self--control and to live a hard, simple life.

For instance, he cannot take any food after sunset. Their monks and nuns hang a piece of cloth over their mouths so that insects present in the air may not be breathed in and killed.

They also carry a piece of cloth with which they are careful to wipe any place where they are about to sit down. This is to prevent their accidentally killing any tiny living bing that may be there.

The teachings of Jainism are binding upon every person of whatsoever degree. The main principle is "Do your duty. Do it as humanely as you can."

परिशिष्ट नं० २

Certain Jains Allegation Refuted

ACCORINGD TO HARD AND FAST HISTORICAL FACTS.

Mach 20th, 1925.

To

The Minister of Education, the Director of Public Instruction, Deputy Directress of Public Instruction, all Deputy Commissioners, Divisional and District Inspectors of Schools, Inspectresses of Schools, Headmasters of Anglo Vernacular Board Secondary Schools, Managers of Aided and Unaided Schools in the Punjab and C. P., the Superintendent Borstal Institution, Lahore, and the Secretaries, Text Book Committees, Punjab and C. P.

SIR,
MADAM,

We have very carefully read the criticism offered by Mr. Gopi Chand, B. A., Vakil, in his Circular letter, dated March 10th, 1925, and have also re-read the passages in our book in the light of that criticism. We suspect that all this has been done at the instigation of some interested person; otherwise the nature

of the objections are quite baseless as shown below. We have to say in reply, that the gentleman is not justified in saying that our remarks on Jainism are entirely unfounded, misleading, wrong and injurious to the religious feelings of the Jain Community, etc. We regret to notice that the tone and the language employed by our critic rather betrays haste and savours ill-will on his part. For his satisfaction and that of the T. B. C., however we propose, in our reply to deal with each point seriatim and feel quite sure that it will convince the reader that our remarks on Jainism are not incorrect or besides the point. The views we have expressed are expresssd by standard writers no Indian History and will also be found in books on Indian History both in Urdu and English which are already taught as Text books in Schools.

Lastly we have to say that these remarks are in no way damaging or condemnatory to Jain religion.

We shall deal with the points seriatim:----

1. "We shall tell the story of Mahavira who founded Jainism".

The critic objects to the above remark in our book and adds: It is QUITE WRONG according to Jain History as well as foreign authors. Mahavira was not the founder of Jain religion, but the 24th and the last Tirathankara. We quote below from the foreign authors:—

Mrs. Sinclair Stevenson, M. A., Sc. D. (Dublin) says in her book:—"The Heart of Jainism" :—

(a). "Parsavanath, the Tirthankara, who immediately preceded Mahavira, *may also* have been a historical person. *Very probably* he did something to draw together and improve the discipline of the homeless monks, who were outside the pale of Brahamanism, much as St. Benedict did in Europe. *If* so, he was the real founder of Jainism, Mahavira being only a reformer who carried still further the work that Parsavnath had begun." (page 48.)

(b). "Mahavira was not an originator, he merely carried on, with but slight changes, a system which existed before his time, and which probably owes its most distinguishing features to a teacher named Parsavanath, who ranks in the succession of Jains as the predecessor of Mahavira."—Encyclopedia Britanica, XI edition, Vol. XV. page 127, first column.

(c). "But according to the Jains the founder of their religion, in this half cycle of time was Rishabhdeva, the first of their 24 lords (Tirathankaras) although their version is that their *religion is eternal.*"

In reply to the above criticism we make bold

to say that our critic does not seem to have read three passages between the lines.

(i). Mrs. Sinclair Stevenson begins her own survey of Jainism with the story of Mahavira. She herself does not ***seem convinced*** of the mere traditional account of the origin of Jainism and consequently does not lend any *positive support* to the tradition of Parsavanath as a historical personage. She says, as quoted by our critic above and verified by us.:--

"Parsavanath.....***may have been*** a historical personage."

And again "***very probably***, he did something....," Again "***if so***, he was the real founder....."

The other European authority quoted by our critic is the writer in the Encyclopædia Britanica on Jainism. See (b) above.

(ii). But it appears that the very first sentence of the paragraph from which the above quotation (b) is taken, has escaped the notice of our critic. It runs :——

"Jainism purports to be the system of belief promulgated by Vaddhamans, better known by his epithet Mahavira." Further down in the same

article, on page 128, para 2, the writer continues: "It is related of the *founder himself* the *Mahavir* that after twelve years. penance he thus obtained **Nirvana** before he entered upon his career as a teacher."

The Jains are at liberty to take any view, they please, about the origin of their religion and we do not dispute their view that Mahavira was not the founder of that religion but the 24th and the last Tirathankara, as urged by our critic. But we do not agree with him that it is *quite wrong to say* as we have said: "We now tell the story of Mahavira who founded Jainism", because, for all practical purposes, the standard writers on Indian History, if not the Jains themselves, consider Mahavira to be the founder and the greatest hero of Jainism. We have given above two quotations from the Encyclopædia Britanica upon which our critic has also drawn for support (*vide* (b) above). But even this writer, as shown in the two extracts (ii, above ` taken from the same artical on Jainism—even this writer is unconsciously inclined to accept the view that Mahavira was the founder of the religion.

We give below a few more extracts from standard European writers :—

"*Mahauira is usually regarded as the real founder* of the Jain religion; and as we have very scanty information about the only one of his *alleged*

predecessors who *may possibly* have had a real existence, we are, in our investigation, almost forced to adopt this point of view."—Cambridge History of India, Vol. I, page 153.

The late Dr. Vincent Smith in his "Early History of India," Oxford, 1914, page 29, says: "The Systems which we call Jainism and Buddhism hnd their roots in the forgotten speculations of the pre-historic past, but, as we know them, were founded respectively by Vardhaman Mahavir and Gautam Buddha." In his later work 'The Oxford History of India,' 1919, page 50, the learned author, while making a reference to Parsavanath as Mahavira's predecessor, observes: "But we need not trouble about the obscure precursors of Jainism and Buddhism, who may be left to the research of antiquarians."

Such instances can be multiplied from the standard work of European writers on Jainism. But we can also find some support from the writings of recognized Jain authors, like Jogindra Lal Jaini, M. A., Judge, Indore State and President of the All India Jian Association. We come across a passage in his 'Outlines of Jainism', 1916, page 28, which runs thus: —"After fourteen yesrs of asceticism Mahavira felt that he had solved the riddle of human misery and was prepared to preach it to the world as Jainism."

Lastly as the Jain point of view given by our critic in (c, above) that the founder of their religion *was Rishabhdera* and that their *religion is eternal* etc; we have only one word to add. It is not peculiar of the Jains alone, but more enthusiast and the more orthodox members of a religious community, almost invariably, claim for their religion a far more antiquity than, perhaps, what can stand a sober and reasonable historical criticism. But the more sober, even amongst them, would allow some latitude for historical criticism. Mr. Jogindra Lal Jaini in the Outlines of Jainism," page 33, while summing up his conclusions regarding the antiquity of Jainism, says:—"Thus historical research allows the beginning and confirms the conclusion* of the sacred Jain tradition. *Its main tenor has yet to be verfied."*

Now we do hope that our critics will be convinced that we are not alone in expressing the view that 'Mahavira founded Jainism' but this view is expressed by several recognized writers in their most recent and up-to-date Standard Work on Indian History, quoted above. These works, we must remember, are designed for the advanced University students and

---

* Conclusion *i. e.* Mahavira was the last Tirathankara who attained *Nirvana* 250 years after Parsavanath.

if, even in such works, the tenor of discussion points to the conclusion that "Mahavira founded Jainism" then we will only ask our critic if he is justified in condemning our little primer for the statement:--"We shall tell the story of Mahavira, who founded Jainism" especially when he knows that it is meant for young boys who learn so little and forget so readily that it is always safe to avoid crowding them with too many details and obscure facts.

III.The second and third points to which our critic sojects are. He [Mahavira] joined an order of monks founded by Parsavanath." and "he remained a member of the order for several years, but could not obtain peace of mind. So when he was about forty years of age he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own called Jainism." He then gives his own or Jain point of view. "The Tirathankaras (Jinas) do not become the disciple of any second person. They themselves obtain omniscence by meditation and then preach the same doctrine as their predecessors [previous Tirrthankaras] did. Parsavanath was the predecessor of Mahavira and the parents of the latter were the followers of the order of Parsavanath, hence it follows that Jainism existed even before him and Mahavira was born of a Jaina family.." Further he says: "It is ***altogether wrong and baseless. Mahavira never joined***

and so could never give up any order. He never founded a system of his own...." That Jainism did exist here even before Mahavira, can be seen from the two quotations given above from Mrs. Sinclair Stevenson, and the Encyclopaedia Britanica.

In reply to the above criticism we have to say that this may be Jain view that the Tirathankaras do not become the disciple of any second person and therefore it is altogether wrong to say that Mahavira at first joined the order of Parsavanath, etc. This may be Jain view, based on their sacred traditions and legends and the Jains are welcome to it. But for purposes of historical lessons one would not depend upon traditions alone. It is always safe to include in such lessons ascertained facts which have been accepted by writers of recogised merit.

We would also like to point out for the information of our critic, that even here, he has failed to understand correctly the views of Mrs.Sinclair Stevenson. Mrs. Stevenson, herself, is in agreement with other European scholars that Mahavira first joined the order of monks, established by Parsavanath and then left it after some time and started on his own account as a religious teacher when he was about forty years of age. On page 33 of her book: "The Heart of Jainism," she says:—"***Research seems to***

have established the fact that at eirst he (mahavira) belonged to the order of Parsavanath mentioned above, a body of medicants leading a more or less regular life, and that in accordance with their custom he wore clothes; but many Jains will not acknowledge that a Tirathankara could have belonged to any order even for ever so short a time; they agree however that for thirteen months he did wear one cloth. Further on page 35 she again observes: "And so before long Mahavira found the discipline af Parsavanath's monk to lax, *and after a year he left them*, to wander alone in a state of absolute nudity."

Dr. Vincent Smith also lends support to the view expressed in our book. On page 5C, "Oxford History of India," he says:—"He (Mahavira) gave up his honourable rank and joined the ascetic order of Parsavanath in which he remained for some years. Becoming dissatisfied with the rules of that order, he started on his own account as a religious leader when about forty years of age.....In the course of his minstery *he organized a new order* consisting of professed friars and nuns, lay brethren and lay sisters."

Even on his own admission our critic believes that the parents of the latter [Mahavira] were the followers of the order of Parsavanath. It is very

likely, therefore, that (Mahavira) when he left his home and set out for the life of a homeless monk. he joined the order of Parsavanath with which he was sequainted before,

IV. The fourth objection urged against our book is that we have said: "He (Mahavira) did not believe in God." Our critic urges that "Jains do believe in God but not as the Creator or the Destroyer of the Universe. According to them any soul may obtain perfection and thus become God !"

This point does not need any elaborate explanation on our part. The difference in the two views about Jain belief in God-as stated in our book and that expressed above by our critic is, in our opinion, slight though very complicated and one that involves highly technical and metaphysical discussion. Our critic, we do hope, would agree with us that such minute differences can not be intelligently grasped by young students for whom this small primer of Indian History is meant. We would also urge that, if, by God we understand, as an average intelligent man does, a Divine Creative spirit, Jainism is definitely atheistic. In their philosophy no place is reserved for God as such. Rather the belief in a Supreme Deity is emphatically denied. According to their belief, a most perfect man is God; 'for any soul', says our critic, 'that may obtain perfection can become God !' To quote again from Mrs. Sinclair Stevenson,

whom, among European writers, our critic seems to consider authority on Jainism--page 29, of "The Heart of Jainism"--The Jains do not believe in one Supreme God. " Further a little below on the same page she observes: "For instance, the Jains can have no conception of the forgiveness of sin, for, to them there is no God against whom they have sinned".

V. The fifth objection raised by our critic is against our remark: "The belief that even lifeless objects possess soul makes the Jains even more careful about the protection of life than the Buddhists."

It is urged against us by our critic that "lifeless objects do never possess souls. There exist too clear divisions of animate and inanimate objects in the Jainic philosophy. Inanimate objects do never possess soul. They believe as Sir J. C. Bose and other modern Scientists have begun to believe."

We have no quarrel with Jain philosoply or the Jain view of soul or the two categories into which they [divide the whole universe as *Jiva*, Soul; and *Ajiva*, non-Soul. It may be logically perfect or not perfect. But there is no denying the fact that it is extremely difficult to explain the Jain view of soul by the use of such commonplace words as lifeless or inanimate living or animate, etc.

It is bound to lead to difference of opinion

regarding the choice of words to explain and to make intelligible to young boys such a complicated technical and scientific view of soul as is taken by the Jains. The Jain belief of 'souls in water, air and mineral substances, like stones in a quarry or coal in a mine, etc., can only be explained in simple, plain language and made intelligible to young children, as we have done. Children of the age for whom these lessons are meant are not capable of understanding such minute scientific principles and to them a piece of stone or a particle of earth is no better than a lifeless object and to tell them, according to Jain belief of soul, that these objects possess soul it will not be far from right.

We make bold to say that there is nothing damaging to Jain religion in our remarks (Nos. IV and V above) and they do not in any way mislead a student as is alleged by our critic, or even lead him to form a wrong idea about Jainism. What we have said is that this belief that lifeless objects possess soul *makes the Jain more careful about life than the Buddhists*. This is rather creditable to a sect whose main doctrine is that of *Ahinsa* or harmlessness-non-injury to life.

VI. The sixth objection against our remarks is "Both the sects have their own sacred books and they are on very bad terms with each other."

The gentleman himself admits in his criticism that the two sects have their own sacred books—one in Prakrit and the other in Sanskrit and Hindi. Of course we have never alleged that these books treat with different philosophy but it cannot be denied that there are minor differences in details or beliefs and rituals of the members of the two sects and that they have not always been on the best of terms.

VII. In his last objection our critic says: ',We are wrong even in saying that the Jains began to worship the images after Mahavira." And adds that "they did such worship even before."

In the first place we have never said so. All what we have said on page 14, is that "In course of time they (Jains) have begun to worship the images of their twelve Jainas, etc." To our critic's allegation "they did such worship even before," we would reply that any one who claims to have even a slight acquaintance with ancient Indian History,knows this patent fact that the image worship was introduced into India for the first time, after the Christian era, whereas Mahavira flourished in the 6th century B. C. It could not therefore have been introduced before his time.

UTTAR CHAND KAPUR & SONS,

The Publisher.

परिशिष्ट नं० ३

CORRECTIONS.

1. ".....and in this chapter we shall tell the story of Mahavira, who founded Jainism."

Let. this read as follows:—

".....and in this chapter we shall tell the story of Mahavira, who was the 24th and the last. Tirthankara of Jainism and who re-established Jainism, though he is erroneously regarded by some as the founder of Jainism."

2. "Vardhaman Mahavira was a noble of the Lichchhavi tribe....." Let this stand as

"Vardhmana Mahavira was the son of a prince of the Lichchhavi tribe ....."

3. ".....he joined an order of monks founded by Parasvanath." Correction suggested:—

".....he renounced the world and began to perform asceticism, as his predecessor Parasvanath and the other Tirthankaras and saints had done before him."

4. "He remained a member of the order for

several years, but could not obtain peace of mind. So when he was about forty years of age he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own called Jainism."

Correction suggested:—

"He practised severe asceticism for several years, but did not become an Arhata till the age of 42, when he acquired full enlightenment and wisdom. He then preached the truth of the Jain religion afresh to the people."

5. "He did not believe in God...."

Correction suggested:—

"He did not believe in the doctrine of creation, and did not consider creative activity to be an attribute of God...."

6. "According to him, even trees, stones, air, and water were capable of feelding and were affected by,....."

Correction suggested:—

According to him, even trees possessed life, and there were souls also with bodies composed of a single element, earth, gaseous matter, water or fire; these souls were capaole of feeling and were affectde by,....."

7. "The belief that even lifeless objects possess souls. . . . . ."

Should read:—

"The belief that even such low forms of life as those that had the elements for their bodies. . . . ."

8. Both the sects. . . .and are on very badt erms with each other."

Correct as follows:—

"Both the sects. . . . and worship many Tirthas in common which sometimes is the cause of litigation between them.

9. "In course of time they have begun to worship the images of their twelve ginnas. . . . . "

Correction suggested:—

The Jains worship the images of their twenty four Tirthankaras (Gods), ... "

10. "Their moks and nuns hang a piece of cloth over their mouths so that insects present in the air may not be breathed in and killed."

Correction suggested:—

"The monks and nuns of the Sthanakvasi sect keep their mouths covered with a piece of cloth to prevent small invisible insects in the outer atmosphere from being killed by their hot breath."

परिशिष्ट नं० ४

From,

Sir George Anderson, Kt. C. I. E., M. A.

Director of Public Instruction, Punjab.

To,

The Divisional Inspectors of Schools, Punjab.

C. M. No. 5256 B. Dated. 23rd April, 1925.

Sir,

I have the honour to request you to inform the schools in your division that in the High Roads of Indian History, Book Second, published by Messrs Uttar Chand Kapur and Sons which was recommended as a supplementary reader for use in schools vide my circular no: 1/2878 B. Dated the 27th February, 1925, the chapter on "The Founder of Jainism" (Pages 12-15) should not form part of the school teaching as it contains passages to which objection has been taken by the Jains. The publishers have been asked to revise the chapter and submit the same to Text Book

Committee for consideration before its incorporation in the next edition.

I have the honour to be,
Sir,
Your most obedient servant,
Sd. J. E. Parkinson
Assistant Director,
for Director of Public Instruction Punjab.

No. 5257 B.

Copy forwarded to the President, Shri Atmanand Jain Sabha, Ambala, for information, with reference to his letter dated the 10th March, 1925.

Sd. J. E. Parkinson
Assistant Director,
for Director of Public Instruction Punjab.

परिशिष्ट नं० ५

From,

Sir George Anderson, Kt., C. I. E., M. A.,
Director of Public Instruction, Punjab.

To,

Messrs. Uttar Chand Kapur & Sons,
Publishers, Lahore.

No. 5258 B. Dated 24th April, 1925.

Gentlemen,

I have the honour to inform you that the chapter on "The Founder of Jainism" at pages 12--15 in the High Roads of Indian History, Book second, has been adversely criticised by several Jain Sabhas and found to contain passages objectionable to the Jains. It has, therefore, been decided that the passages objected to may be modified in the light of criticism made by Shri Atmanand Jain Sabha and that the revised chapter should be submitted to the Text Book Committee for consideration before its incorporation in the next edition.

The Divisional Inspectors of Schools have been requested to inform the schools in their divison that

the chapter under reference should not form part of the school teaching.

I have the honour to be,
Gentlemen,
Your most obedient servant,
(Sd.) J. E. Parkinson,
Assistant Director,
for Director of Public Instruction, Punjab.

परिशिष्ट नं० ६

MAHAVIRA & JAINISM.

We have already given an account of Gautama and of the great religion founded by him. In this chapter we shall tell the story of Mahavira, who lived about the same time as Gautama and who was a great exponent of Jainism, another great religion of Ancient India.

Vardhamana Mahavira was the son of a ruling chief of the Lichchavi tribe, who inhabited the country round the modern Patna. He was a great thinker and he gave up the world at an early age. He lived a hard and simple life for several years, till at the age of forty-two he is said to have acquired full and complete enlightenment.

Thereafter he travelled through modern Bengal and Behar, preaching the doctrines of Jainism to the people. Being of noble birth, he was well received by the ruling kings of these countries. This made it easier for him to win converts to the religion he dreached.

His religious order consisted of monks and nuns, besides--lay brothers and sisters who waited upon them.

He did not believe in God as the maker of the world, as a potter makes a pitcher or a gold smith a bangle. He believed that the world with its men, animals, birds, mountains, rivers, etc., existed from ever. According to him not only men but also animals, trees, birds, insects, and even lower forms of life, possessed souls, were capable of feeling, and were equally affected by pleasure and pain.

The main teaching of Jainism is the doctrine of Ahinsa, that is, not to injure any kind of life as far as possible. The belief that even the lowest forms of life possessed souls makes the Jains particularly careful about the protection of life.

The Jains are not supposed to believe in caste, but in modern times we find them as particular about it as any other Hindus. They are divided into two main sects the Swetambaras or the followers of the white--robed, and the Digambaras or those of the naked.

The Jains offer worship before images of their twenty-four Tirthankaras (Deliverers.) The Sthaakvasis, a sub-division of the Swetamberas, however, do not believe in such worship.

A Jain is careful of life in every form. He tries to respect the feeling of his neighbours in every possible way. He is enjoined to exercise self-control and to live a hard and simple life. For instance, he cannot take any food after sunset. The monks and nuns of the Sthanakvasi sect keep their mouths covered with a piece of cloth to avoid injury to the many invisible living organisms present in the air. They also carry a soft woollen brush with which they are careful to wipe any place where they are about to sit down. This is to prevent their accidentally injuring any form of life that may be there.

The main principle of Jainism is, "Do your duty: do it as humanely as you can."

परिशिष्ट नं० ७

(क)

Dear Sir & Brother,

Jai Jianendra. I am in receipt of your letter of the 6th Inst. which only arrived this morning, and I am rejoiced to hear that the publishers of the High Roads etc. are willing to adop t my suggestions in their book. But I donot understand what authorities they want me to cite. There is only one point that might be deemed to stand in need of authoritative views. The rest are mere matters of faith and general knowledge. I shall deal with them Seriatim as far as I am able to do so in a hurry.

(1) That Mahavir Swami was not the founder of Jainism is now recognized by every scholar of note. See the Article in the Encyclopaedia of Religion and Ethics on Jainism. See also the notes of the speech of Dr. Hermann Jacobi, the great German Orientalist, in the January number of the Jain Gazette, 1914. See also the authorities collected by me in the Practical Path (Appendix). Also see Short Studies in the Science of Comparative Religion" by Forlong. The Historicity of Bhagwan Parasva Nath is not now generally questioned by learned

writers,and the fact that Jainism was founded by the first Tirthnakara,Shri Rishabha Devaji is amply proved by the records of the rival creed namely Hinduism, which would never have acknowledged the Blessed Lord as one of their AVATARAS if he had not been an historical figure. It is not necessary for a writer of modern History to actually acknowledge the historicity of remote tradition, but he is then also not actually called upon to pronounce his opinion on them. The words "the twenty-fourth and" might even be omitted from the correction suggested by me; I shall not quarrel with that. Then the correction will simply read as follows:—

"·····and in this chapter we shadl tell the story of Mahavira, who was the last Tirthankara of Jainism and who re-established Jainism, though he is erroneously regarded by some as the founder of Jainism."

(2) That Mahavira was the son of a king is scarcely open to question today, and I donot understand a historian who is not satisfied with the dictum of the learned in this respect, and who is merely writing a small book for school children ! The writer may be referred to the Life of Bhagwan Mahavira by Babu Kamta Prasad where he will find the questions relating to the life of the Holy Tirthankara dealt with

from both the points of view, namely, tradition and history.

(3) This needs no proof. The observations of Dr. H. Jacobi in the Jain Gazette (English) for January 1914 will suffice to show the truth of the correction suggested.

(4) The life of Mahavira will make this sufficiently clear; but I am tempted to ask what is the authority of the writers of the High Roads etc. for their absurd and insulting statement in this respect ?

(5) This needs no authoritative European pronouncement. It is simply a question of the Jaina tenets. Surely the authors must not write things about the religion of others without studying it. That the Jains deny the existence of God—"is a statement which makes every Jain laugh." The correction suggested does no harm to the authors, view, but only removes the philosophical error which they have introduced in their work. In many of the Jaina works the author swould find the salutation: ***Om Shri Paramatmane Namah.*** Will the authors ignore this and say that the Jainas are ignorant of Paramtaman. ?

(6) and (7) again are concerned the with matter of doctrine. Surely the authors ought to understand such simple terms as Prithvikaya,apa-kaya etc.,which

do not mean earth, water and the like, but earth-embodied souls, water-embodied souls, etc. It is not the Jaina view that all water,earth etc. are living objects, but that there are certain souls that have their organism composed of one element, earth, water and the like. This is simple enough.

(8) again is not one that requires the authority of a Jacobi or Buhler to be established. It is a great pity that litigation has arisen in the past and is also going on now between the two communities in certain places with respect to the rights and modes of worship, but the authors ought to know that it is merely a legal dispute and no more. The writer of this note is a Digambara Jain and is writing to a Swetambara Samaj through its Hon. Secretary who is himself a Swetambara Jain. Is not this fatal to the theory of our authors ? Last year when I was conducting the Sikherji case at Ranchi, I frequently called upon the Swetambari party and they returned my visits in quite a friendly spirit. At the close of the case I gave a small party also which was responded to cheerfully by those of the Swetambris who were able to come, and in the end we paid a joint visit to the local institutions there.

(9) That is the authority of the authors, for the

statement that the Jains began to worship the images Junnas. of their twelve It is a cofused muddle which they have created out of their unsettled thoughts. Are they able to point out when the Jains took to worshipping for the first time ? And who are these Junnas ? The Jains donot worship any Junnas ! and the number of the Gods they worship is twenty four, not twelve ! Am I required to cite Eqouropean authority for this view also ? Any day the authors can satisfy themselves as to this if they care to find out the truth. I wonder where they got these ideas from which they are now putting forth in the form of history, and with all the unbending authority of history.

I am glad they have shown an inclination to adopt my suggestions which on mature reflection they will find to be quite harmless to their reputation as historians. But I really suspect they will add to their fame as thoughtful writers. This is the proper spirit, and I am always ready to admire the writer who does not hesitate to acknowledge his slips and to make amends for the same.

I am proud of the interest you have taken in this matter, and feel that if all Jainas will work in the same spirit the misconceptions prevailing about

our noble religion will soon be dispelled.

Inconclusion I beg to remain.

Yours sincerely and fratermally
Champat Rai Jain

(ख)

Indore
6th April, 1925

Dear Sir,

I have read the publisher's letter. At present I am not prepared to say that the Authors have a deliberate intention to insult or injure the Jains or their religion. But, I fear that having written what they have written and having got it published, they want to defend even what they would not have written,if they knew Jainism and the susceptibilities of Jains better.

On the whole, their position is that their book is meant for small school boys, and therefore points of historical and philosophical controversy cannot be discussed in it as being beyond the mental range of the boys. I entirely agree. But that does not justify our giving one side of a controverted theory or fact, as if it were an established conclusion of most up-to-date research. But on their own showing this is

just what they have done.

Religion,after all, is a matter of Faith, whether it is Jainism, Hinduism, Christianity or Mahomedanism. Here indeed we

By faith and faith alone embrace

Believing where we cannot prove.

No one has any right to dictate or distort the religion of another in any way on any ground of research or on any pretext, real or fancied, whatsoever.

The very best thing for a man is not to write about any one else's religion. The next best thing is to get one's own writing revised by a follower of the religion, as was done, wisely and in a true spirit of brotherly religion, by the Rev. J. N. Farquhar D. D. who came from Oxford to London in 1913 purposely to show me his account of Jainism for a series of lectures in America. The third best thing for an author is to acknowledge his mistake and to withdraw his publication or to make other suitable amends.

I fear the authors have failed in all these three also.

As to their reply, it is untenable on almost all points. How it is so, I give below.

I. "We shall tell the story of Mahavira who ***Founded*** Jainism."

They do not give their authority for the wrong statement. The statement is wrong in a Primer for boys. In a bigger book for scholars the statement may be understood to mean merely that Jainism as known today is due to Lord Mahavira, the 24th Tirthankara of the Jains. In any other sense, the statement that Lord Mahavira "founded" Jainism is a gross error.

Mrs. Stevenson and her "Heart of Jainism" are given as authorities on Jainism. What the Jains and I think of the book is given in my long ***Review of the heart of Jainism**** written in 1917, at the desire of Prof. Widgery, Editor of the PHILOSOPHICAL REVIEW, Baroda. It was published in the JAINA GAZETTE, Madras.

The article in ENCYCLOPAEDIA BRITTANNICA is an old affair, and Jaina study has advanced much farther now.

Dr. Vincent Smith was a more modern English authority on Hisotry. The latest edition of his **Oxford History of India** certainly does not bear out the contention of the authors.

---

* Can be had from the Secretary, Shri Atmanand Jain Tract Society Ambala City. for /4/—

The authors pay me the oomplivent of quoting me and considering me as a "more sober" though "enthusiastic and orthodox member of the community". But there is nothing in my book **(Outlines of Jainism** 1916, Cambridge University Press) to support the dictum that Lord Mahavira founded Jainism. Indeed the whole book, carefully read, is a persistent refutation of the authors' position *E. G.*

p. xxvii II 9--10 "Twenty-four Tirthankaras or guides arose."

p. xxxiii 1I etseqq "Thus we see that Mahavira was not the founder"

Then, at the same p. xxxiii, I start with the historicity of Lord Neminath, the 22nd Tirthankara and a cousin of Sri Krishnaji, of the immortal Bhagvad Gita. Dr. Straus supported me in this in a lecture in Benaras in 1914. At p. 23 of my book, by "main tenor", I mean the detailed *Historicity* of the other 20 Tirthankars. Therefore it is wrong in truth, history and religion to teach school boys that Lord Mahavira *Founded* Jainism.

II & III. "He (Mahavira) joined an order of monks founded by Parasvanath" and "He remained a member of the order for several years, but could

not obtain peace of mind. So when he was about forty years of age he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own called Jainism."

If the authors reply is correct, it comes to this that they insist upon giving Jaina religion and Jainism an import of their own, which is contrary to the time-honoured tradition and deeply-cherished belief of Jains. No one has a right to do this. When every community, however small and backward, has its own educated men, why not ask them to write, or revise anything that is written, about their sacred beliefs and rites ?

A Primer for school boys should contain nothing controversial or painful to a religious community. There is no justification or use for the Authors to include such statements in the Primer.

IV. "He (Mahavira) did not believe in God."

This is a cruel libel; an insulting defamation. Jainism does believe in God-hood and Gods. It is *not* atheistic. My account of this position is quite brief.

"As compared with most other religions, it is important to notice that Jainism has a very definite

and uncompromising attitude towards the conception of God. It is accused of being atheistic. This is not so, because Jainism believes in Godhood and in innumerable gods but certainly Jainism is atheistic in not believing its gods to have created the Universe. Creation implies Volition, a desire to create. A desire can only relate to some thing or fact which is not but ought to be; therefore it implies imperfection. And God cannot be imperfect. This is the most common-sense argument against the theory of God as the Creator of the Universe. In a word, believers in the creation theory make God a man, bring him down to the level of need and imperfection; whereas Jainism raises man to Godhood and inspires him to reach as near Godhood as possible by steady faith, right perception, perfect--knowledge, and, above all, a spotless life."

V. "The belief that even lifeless objects possess soul makes the Jains even more careful about the protection of life than the Budhists."

Any one who knew even the most elementary A B C of Jainism could not commit this absurd mistake. The authors' reply is equally absurd. Jainism is simple. It believes in 2 kinds of substances : Living and non-Living. Souls alone are living substances How can then "lifeless objects possess souls" ? This absolutely wrong assertion cannot be justified by

pleading that the authors made it to applaud the Jainas for Ahimsa.

VI. "Both the sects have their own sacred books and they are on very bad terms with each other".

Where is the necessity to teach this to "children of the age for whom these lessons are meant" ?

If you teach this,then give the truth in all its details. But that is too much for the age and mind of such "children". It is instruction of this sort which evokes and justifies the acid criticism of men like Wells on the futile hollowness and fatuity of our modern educational methods.

VII. "In course of time they (Jains) have begun to worship the images of their twelve Jinnas etc."

Jainas do not worship "the *Images* of 12 Jinnas". The details and history of Image worship among Jainas is a study by itself. I know little about it. But even to the superior knowledge of the Authors I can not concede that their above statement is right. As it stands it is certainly wrong and misleading.

Why "in course of time" and why "12 Jinnas ? Something about Jaina worship is given in my book.

Religious polemics are against my temperament. think the essence of Jainism is

"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्व।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

In conclusion, brotherly pain prompts the question why the pen of scholarship should be used to encourage Controversy and Bitterness, instead of promoting Co-operation and Brotherliness.

If any remarks of mine offend or pain the Authors, I beg their forgiveness. Unless it be to praise or believe it, I would not deal with Hinduism, Christianity or Mahomedanism, as Jainism is dealt with in the Primer.

Yours Sincerly,

Jogmander Lal Jain

Bar--at--Law

卐 卐 卐

HIGH ROADS OF INDIAN HISTORY.

The so-colled refutation, by the publishers of the above book, of the objections raised by Jains to the misleading, incorrect and unfounded statement regarding the Jains and Jainism as published in the above o ok, is clearly a piece of special pleading, and when closely examined serves to demonstrate the strength and gravity of the objections.

2. The initial suggestion that the objections have been raised "at the instigation of some interested person, is obviously baseless and without the slightest foundation If you have a weak case, absuse your adversery" may be a trick of the trade, but it is a vile and dirty trick indeed. The publishers have not stated a single fact from which any ill--will, self-interest, or rashness of the objections can possibly be inferred. The self-interest of the Publishers, on the other hand, is quite obvious, and it is clear why they should defend the unpardonable features of the book.

3. The quotations from Mrs. S. Stevenson, the Encyclopaedia Britannica, Dr. Vincent Smith and Mr. J. L. Jaini, themselves show that the absolute unqualified assertion in the book that Mahavira founded Jainism is unfounded, and wrong and should not have been made in derogation of what has been universally

admitted to be one of the most ancient religions of the world. The attempt to mislead the rising young generation of India and to create false notions in their mind, derogatory to Jainism is simply unpardonable. The first impressions on young minds are deep and difficult of being removed. If the authors had really taken the trouble of reading even what the publishers now refer to, and were not possessed of any bias or prejudice or religious bigotry, they would certainly and naturally have written in a different strain.

Ordinarily speaking, when one attempts to describe the religious beliefs of any class of people, he should throughly study their religious books and base his description upon what is stated in those books. It may be sometimes permissible to criticise such beliefs, but such criticism should be reserved for special treatises, and is wholely unjustifiable in an elementary historical reader. Again if the authors did not care to study Jain religious books, which have been published in large numbers, and contented themselves with reading only what the publishers refer to, they should have found no difficulty in stating that "the Jains believe that their religion is eternal, and that it was preached and promalgated at various periods in every cycle of time by 24 deified saints whom they called....."Tirthankaras". Some historians however regard Mahavira as its founder, and others think

that Parshvanath the Tirthankara, who preceeded him, and after whom is named the Parasnath hill, the most sacred place of pilgrimage to the Jains, was also a historical personage". The beliefs of the Jains and the research of scholars cannot be called "matters of detail and obscure facts" which may safely be avoided.

4. If the authors did not know their facts well and did not try to study Jainism the paragraph "He, Mahavira joined an order of the monks founded by Parshvanath and remained a member of the order for several years, but could not obtain peace of mind. So, when he was about forty years of age, he cut off his connection with the order and founded a religious system of his own called Jainism", may well have been omitted as a matter of detail, un-necessarily crowding the mind of young students.

5. The metaphysical discussion as to what is meant by god and as to whether the Jains believe in God or not may also have best been left out in an elementary historical reader. If the authors had cared to study Jainism they could not have failed to benefit from the well-known work of Mr. Herbert Warren, named"Jainism not Atheism".

6. The statement that the Jains believe that even lifeless objects possess soul is quite indefensible on the face of it. It is absurd and a contradiction in terms. The

statement could only make Jainism appear ludicur ous to yonng impressionable minds and has no other justification for its existence. The passage may well have been avoided as a matter of needless detail in an elementary historical reader. Indeed it is difficult to conceive why the authors should have attempted to explain and make intellegible to young boys what the publishers call a" complicated, technical and scientific view of the soul."

7. The statement that "the two seets of the Jains are on very bad terms with each other" could only be intended to humiliate the Jains. What religion is there on the face of the world in which there are no schisms and the subsects of which have not disagreed among them selves. The civil litigation among the two Jain sects is nothing when compared to the inquisition the Karbala, and the quite recent stoning to death of a Quadiani in Afganistan. No writer of an elementry history, however would ever think of emphasizing such matters.

8. The question of image worship by Jains is also of a highly philosophical character and may best have been avoided. It is only likely to intensify bigotry and prejudice. The publishers have given no reference at all for their so called patent historical fact, that image worship was introduced into India after the Christian Era which is gross mis-statement.

9. The statement that the Jains worship twelve Jinas only exhibits the utter ignorance, carelessness and indifference of the authors about the elementary prineiples and tenets of Jain philosophy, theology and metaphysics.

10. The attempt to mis-represent and ridicule an admittedly ancient religion of India and the attempt to create feelings of enmity and hatred against Jain community is highly refrehensible and the department of public instruction should adopt immediate and adequate measures to prostrate such attempts.

The above points may be summarised as follows:—

1. The statement that Mahavir founded Jainism is inaccurate and misleading.

2 The statement that Mahavir joined an order of monks founded by Parshvanath and failing to obtain peace of mind there left it after several years and founded Jainism is also wrong and unnecessary.

3 The statements that Jains are atheist, that Jains believe in lifeless objects possessing soul, that the two sects of Jainism are on very bad terms with each other, that they commenced to worship images and that they worshiped 12 Jinas are also wrong, likely to

intensify prejudice and bigotry and to create feelings of enmity or hatred against the Jaina community in young impressionable minds and should have been amitted in elementary historical readers.

(Sd.) Ajit Prasad,

Vakil of Lucknow.

परिशिष्ट नं० १०

DHOLPORE.
4-4-25.

Dear Sir,

I have already communicated my views on Jainism which are the same as yours. The circular letter of the publishers now recd. from you is unconvincing and aims at perpetrating the errors that have been pointed out in your circular letter in the interest of truth. The publishers seek to justify their incorrect and misleading views on the ground that others before them have done the same. No foreign writer, however eminent he or she may be, can be relied upon in such matters unless he or she gives in full the reasons of his or her differing from the traditional views of the followers of that religion. A blind man leading a blind man, can constitute no justification. If other European writers have fallen in the same mistake they are all to be condemned. We hold no briefs for Smith, Sinclair or their ¡likes. Their views, unless fully explained in the light of discoueries are dogmatic, and no writer has the previlege of misleading the boys of a religion that they profess. The publishers ouht to thankfully acknowledge their

mistake and issue a correction sheet. They are totally wrong in asserting that image worship was introduced after Christ. Many images of pre-christian times have been discovered.

Yours truly,

Kannomal.

[घ]

श्रीयुत् महात्मा मोहनदास कर्मचंद जी गांधी ने अपने पत्र यंग इंडिया तारीख ५-३-२५ पृष्ट ७०, कालम दूसरा, पंक्ति ४८ से ६० तक में इस प्रकार लिखा है—

...."though there is officially the CHARVAK School, I do not know that it has any votaries. I deny that Budhists and Jains are atheists or agnostics. The latter they cannot be. Those who believe in the soul as apart from and capable of life independent of and after the dissolution of the body cannot be called atheists. We may all have different definitions for 'God'. If we could all give our own definitions of God, there would be as many definitions as there are men and women. But behind all that variety of definitions there would be also a certain sameness which would be unmistakable. For the root is one. God is that indefinable something which we all feel but which we do not know."

[ङ]

EDUCATION FOR FREEDOM.

(BY T. L. VASWANI.)

...."The current system, specially in areas under official influence and control, is directed-misdirected-by political motives. A school or college should be a temple of culture. As it is, propoganda is often placed above truth. This is specially the case with regard to the teaching of History. A text-book for the matriculation students of the Bombay University refers. I am told, to Tilak, as a 'mischief maker' ! Another text-book in the Punjab University speaks of the great Jain Prophet of 'Ahinsa' Lord Mahavira, in terms which have wounded, I think rightly, the sentiments of the Jain community. In many a subtle way, the impression is created on immature minds that Indians are, essentially, inferior to Englishmen, and that Indian culture and Indian civilization are but poor things compared to Europe's. The ancient past is often ignored or distorted, and when we come to the modern period it is the British who are represented-misrepresented as having been invariably imferior to the Indian. To teach History in this spirit is to weaken the moral fibre of Indian students."....

(New Times, Karachi 16. 5. 25)

भारत का धार्मिक इतिहास।

लेखकः—पं शिवशंकर मिश्र बेथर, उन्नाव।
प्रकाशक—रिखबदास बाहिती एंड कम्पनी कलकत्ता।

यह हिंदी भाषा की पुस्तक १९२३ ई० में प्रकाशित हुई। इस में उन सभी धर्मों का वर्णन है, जो वेद-काल से लेकर आजतक भारतवर्ष में फैले हैं। प्रत्येक धर्म के मूल-प्रवर्त्तक की संक्षिप्त जीवनी और किसी २ का चित्र भी दिया है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु सर्वथा दोष रहित नहीं है। जैनधर्म के विषय में आपने सब से बढ़कर ऊटपटाँग लिख मारा था और विशेष कर आपने 'आदिनाथ' जी का जो चित्र बनाया था, वह जैनों की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध था और बहुत कुछ उपहास जनक भी था।

जैनों के प्रसिद्ध तीन संप्रदाय हैं—श्वेतांबर, दिगंबर और स्थानकवासी। पहले दो मूर्त्तिपूजक हैं, स्थानकवासी मूर्त्तिपूजा नहीं करते। श्वेतांबर मंदिरों में जिन प्रतिमायें सुन्दर आभूषणों से अलंकृत-मुकुटकुंडलादि सहित होती हैं और प्रायः पद्मासन से बैठी होती हैं परन्तु दिगंबर मंदिरों में सद्य-जात शिशु की भाँति नंगी और बिना आभूषणों के। तीनों संप्रदायों के साधुओं के

वेष भूषा में भी महदन्तर है।। श्वेतांबर साधु पीले वस्त्र ओढ़ते हैं और हाथ में एक लंबा डंडा रखते हैं परन्तु दिगंबर साधु नग्न रहते हैं और उनके पास मोर पिच्छी और कमण्डलु के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। स्थानकवासी साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं और मुखपर सफेद मुंहपत्ति बाँधे रखते हैं। यह इनकी पहचान है।

पं० शिवशंकर मिश्र जी ने जो चित्र पुस्तक में दिया था वह न जाने उन्हें कहाँ से प्राप्त हुआ था। उस चित्र में दिखाये गये अरिहंत भगवान का सिर मुण्ड मुण्ड था। मस्तक पर अच्छा खासा जैन तिलक था। मुंह पर मुंहपत्ति भी विराजती थी। बदन पर कोट सा भी पहना हुआ था। इससे स्पष्ट है कि वह चित्र किसी भी संप्रदाय को मान्य न था, वरन् सभ्य जनों की दृष्टि में जैन धर्म का खाका उड़ाने वाला था।

यह तो हुआ चित्र का वर्णन। अब वास्तविक लेख की बाबत सुनिये। हम यहाँ पूरा लेख देकर पाठकों को वृथा कष्ट नहीं देना चाहते। यहाँ केवल वेही बातें देदी जावेंगी जिनपर विशेष आपत्ति है।

हमने यह सब दोष पं० शिवशंकर जी को लिख भेजे थे परन्तु उन्होंने पत्र की पहुँच तक न दी। तब विवश हो प्रेस में यह मामला देना पड़ा, जिससे सर्वसाधारण को इस लेख के दोषों का पता लगे। मद्रास से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी

भाषा के मासिकपत्र "जैन गज़ट", फर्वरी मार्च १६२५के अङ्कमें पृष्ठ ५६-५७ पर हमारा जो लेख छपा है उसकी नकल नीच दी जाती है:—

PT. SHIVA SHANKAR MISRA ON JAINISM.

Messrs R. D. Bahite and Co., No. 4, Chorbagan street, Calcutta, have published a book—Bharat ka Dharmik Itihas—by Pt. Shiva Shankar Misra of Bethar [Unao, U. P.]. In this book the author has given the lives and teachings of the founders of different religions found in India, at various times from the Vedic age up to date.

As was necessary he has dealt with Jainism also but it is regretted that the account given by him is, in several respects, wrong and misleading. The author has tried to put before his readers the religion in its simplest form but he has failed. He has not even understood the terms Parigraha, Arihanta, Digambar, Ganadhar, Ganadip and so on.

The following are a few points out of many worthy of reconsidration. He says:—

1. Jainas say that their religion was founded by Rishabhdeva [Adinath] who descended from the Adipurush MANU. But there is no such mention in the religious books of the Aryans.

2. If we take it for granted that Adinath was the originator we must confess then that the people of the ancient Vedic age were so learned and wise that trey did not allow this religion to prosper till the days of Mahavira.

3. The Jains say that the original Vedas were quite different from those that are found now and are preaching brutal actions.

4. In reality Jainism has its origin from ARIHANT.

5. The Arihan preached.

6. He (Arihant) wrote many religious books and established muths here and there so that the people should remain in touch with their religion.

7. Arihanta attained Nirvan (salvation) in B. C. 1567 & 21 tirthankaras succeeded him.

8. Mahavira debated with the Acharya of Budhism and aften winning him put new life into this religion.

9. He (Mavira) let the Onkar mantra remain as it was but also introduced a new Namaskar mantra much resembling the former.

10. Even some Brahmins were converted to

Jainism and Ganadhar and Ganadip are most famous among them.

11. Just after the nirvana of Mahavira Swami his disciples established images of the Tirthankaras and introduced idol--worship among the people so that their faith in this religion might grow greater and greater.

12. They (Digambar monks) remove the cloth when they accept Bhiksha and put it (the cloth) aside when they eat. They put on cloured dress. They follow Budha and not the Arihant.

13. They (Sthanak wasis) consider the Gurus and their worship as of no avail, etc. etc."

The author has been twice requested to quote the books on which his all this knowledge depends but sorry he seems to have paid no heed to the requests, now once more he is requested to reconsider what he has stated above. The Jains would be only too glad to supply him any information he may require if he ever cares to write to them.

B. M. Maudgala.

इसमें दिखाया गया है कि पण्डित जी के लेख में कितनी भूलें हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन कराया जाता है:—

१-जैनों का मन्तव्य है कि उनके धर्म के मूल प्रवर्तक श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) थे जो आदि पुरुष मनु के वंशज थे। परन्तु आर्यों की धार्मिक पुस्तकों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है।

२-यदि हम यह भी मानलें कि आदिनाथ मूलप्रवर्त्तक थे तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राचीन वैदिककाल के आर्य बड़े बुद्धिमान थे, जो उन्हों ने इस धर्म को महावीर के समय तक सिर उठाने नहीं दिया।

३-जैन लोग कहते हैं कि वेदों की मूल पुस्तकें इन वेदों से जो आजकल प्राप्त हैं, बहुत भिन्न थीं। आजकल के वेदों में हिंसा पाई जाती है।

४-वास्तव में जैनधर्म अरिहंत का चलाया हुआ है।

५-अरहन्त् ने प्रचार किया।

६-उसने (अरिहंत ने) बहुतसी धार्मिक पुस्तकें लिखीं और जहां तहां मठ स्थापित किये जिससे लोग इस धर्म से संलग्न रहें।

७-अरिहन्त १५६७ ई० पू० संवत् में निर्वाण(मुक्ति) को प्राप्त हुये और उनके पश्चात् २१ तीर्थंकर हुये।

८-महावीर का बौद्धधर्म के आचार्य से शास्त्रार्थ हुआ और उनको जीतने के बाद उसने इस धर्म में नई जान डाल दी।

९-उसने (महावीर ने) ओंकार मंत्रको वैसे का वैसा रनेदिया। परन्तु इसके साथ ही इसी से मिलता जुलता नमस्कार मंत्र चलाया।

१०–कुछ ब्राह्मण भी जैनधर्म में दीक्षित हुये और गणधर तथा गणाधिप उनमें से प्रसिद्ध हैं।

१२–महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् उसके शिष्यों ने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित कीं और लोगों में मूर्त्तिपूजा का प्रचार किया, जिससे उनका धर्म अधिक से अधिक फैले।

१३–वह (दिगम्बर साधु) भिक्षा लेते समय वस्त्र को परे हटा लेते हैं और खाते समय परे रख देते हैं। वह रंगदार वस्त्र पहनते हैं, बुद्ध को मानते हैं, अरिहन्त को नहीं मानते।

१३–स्थानकवासी लोग अपने गुरुओं और उनकी पूजाको निरर्थक समझते हैं। इत्यादि।"

हमें संतोष है कि हमारे पूजनीय विद्वद्वर्य विद्यावारिधि श्री चम्पतराय जी, बार-एट-ला हर दोईने इस ओर ध्यान दिया उन्होंने प्रकाशकों को बाध्य किया कि वह इस भद्दे लेख को निकाल कर जैन सिद्धान्तानुसार लेख दरज करें। पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो चुका है और अब श्री चम्पतराय जी का लेख पुस्तक की शोभा को बढ़ा रहा है। प्रकाशकों ने भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट की ही। हम भी इसके लिये बैरिस्टर साहिब को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। लेख बहुत लम्बा है इस लिये यहाँ उद्धृत नहीं किया गया। देखने की इच्छा वाले सज्जन उस पुस्तक के पृष्ट ११८ से १३२ तक देख सकते हैं। चित्र बिल्कुल निकाल दिया गया है।

दास्ताने-हिंद, भाग पहला

लेखक { १.खानबहादुर सैयद मक़बूलशाह बी० ए० आई०ई० एस०
इन्सपेक्टर आफ़ बर्नेक्युलर ऐजुकेशन, पंजाब,
२.शेख़ मुहम्मद नाज़िर, बी० ए० बी० टी०

प्रकाशक--अतरचन्द कपूर ऐंडसंज़, लाहौर,

यह पुस्तक उर्दूभाषा में १९२६ ई० में प्रकाशित हुई है। स्कूलों में उर्दू पढ़ने के लिये इसका निर्माण हुआ है। अभी थोड़े दिन हुए श्रीमान् डाइरेक्टर महोदय ने इसे स्वीकृत भी कर लिया है।

इसमें जैनधर्म का वर्णन ठीक वैसा ही भ्रमपूर्ण था जैसा अन्य पुस्तकों में देखा गया है। इसे ठीक कराने के अभिप्राय से निम्नलिखित उर्दू पत्र प्रकाशक महोदय की सेवा में लिखा गया :—

श्री आत्मानन्द जैन सभा,
अम्बाला शहर
२८।२।२७

मान्यवर मैनेजर साहिब फ़र्म अतरचन्द कपूर एण्ड संज़, लाहौर।

आपकी शाया करदा किताब "दास्तानेहिंद-हिस्सा अव्वल", मुसन्निफो खान बहादुर सैय्यद मक़बूलशाह बी० ए०, आई० ई० एस, व शेख़मुहम्मद नाज़िर साहिब, देखी। इसके सफ़हा ६५ पर (भगवान्) "महावीर" के मुतअल्लिक

जो मज़मून है उसके चन्द फिक़रात पर हमें ख़ास एतराज़ है।

आपको याद होगा कि आपकी शाया करदा किताब "हाइरोड्स आफ़इण्डियन हिस्ट्री बुक सैकंड" में इसी क़िस्मका एक मज़मून शाया होगया था, जिसे आपने हमारे एतराज पर और लाला शामचन्दजी की मदाखिलत से, बड़ी मेहरबानीसे बिलकुल तबदील कर दिया था, और जैनधर्म के उसूलों के ऐन-मुताबिक दूसरा मज़मून दरज किया था। तक़रीबन् वही एतराज़ात अब हैं:—

पैरा अव्वल--"और पारसनाथके फिरकेमें शामिल होगया। पैरा २ बिल्कुल ही बेमानी सा है। आप खुद भी अगर बग़ौर पढ़ेंगे तो आपको इस पैरे के बिलकुल मोहमिल होने का यक़ीन होजायगा। इबारत हस्बज़ैल है:—

पारसनाथ जैनमत के असल बानी थे। वर्धमान ने कुछ साल इस गिरोह में गुज़ारे और इस के बाद एक नया फ़िरक़ा क़ायम किया हत्ताकि इस वक़्त तक वर्धमान जैन मज़हब के सर करदा गुरु माने जाते रहे और महावीर के नाम से मशहूर रहे"

ख़ामख़ाह सवाल पैदा होता कि (१) भगवान् महावीर स्वामी ने कौन सा नया फ़िरक़ा क़ायम किया?

(२) अगर भगवान् पारसनाथ जैनमत के असल बानी थे जैसा कि लायक़ मुसन्निफ़ ने पहिले ज़ाहिर किया है और

भगवान् वर्धमान ने कुछ साल इस गिरोह में गुज़ारे और बाद (इस को छोड़ कर) नया फ़िरक़ा क़ायम किया तो वह फ़िरक़ा जैन मज़हब से अलहदा ही तो होगा न ? और अगर ऐसा है तो इस फ़िक़रे का क्या मतलब होगा "हत्ता कि इस वक्त तक बर्धमान जैन मज़हब के सरकरदा गुरु माने जाते रहे"

इस दूसरे पैरे ने तीसरे पैरे को भी बे मानी बना दिया। आप खुद ही अंदाज़ा लगा सकते हैं कि जब, लायक़ मुसन्निफ़ के अपने लफ़्ज़ों में भगवान् महावीर स्वामी के कई साल तक अपने मज़हब की तालीम देते रहने के बाद और बिलाख़िर "जिन" यानी फ़ातह का लक़ब अख्तयार करने पर इसी नाम पर जैन मज़हब मशहूर हो गया तो इस के तो साफ माने यह हो जायंगे कि भगवान् महावीर ने जिस नये फ़िरके की बुनियाद डाली वह तो दरअसल जैन मज़हब है, जो अब तक इसी नाम से मौजूद है, मगर भगवान् पारसनाथ के जिस फ़िरके से उन्होंने कताऽतअल्लुक़ किया वह जैन मज़हब से अलहदा कोई और फ़िरक़ा होगा और यह बात दूसरे पैरे के फ़िक़रा अव्वल के ख़िलाफ़ जायगी। अब रहा यह सवाल कि असल बात क्या है, वह तो यही है जैसा कि हम हाईरोड्स हिस्टरी के मौक़े पर आप के पेशेनज़र कर चुके हैं। यानी यह कि जैन धर्म के बानी भगवान् ऋषभदेव थे जो

जैन धर्म के माने हुये २४ तीर्थंकरों में से अव्वल तीर्थङ्कर थे और भगवान् पारसनाथ जी तेईसवें और महावीर स्वामी चौबीसवें तीर्थंकर थे। और उन्होंने ठीक उन्हीं उसूलों का प्रचार किया जिन का कि भगवान् पारसनाथ जी और उन से पहिले बाईस तीर्थंकरों ने प्रचार किया था। न पारसनाथजी जैन मज़हब के बानी थे और न भगवान् महावीर स्वामी ने जैन धर्म से अलग कोई नया फिरक़ा निकाला।

उम्मीद है कि मन्दरजा बाला अमूर को मद्दे नज़र रखते हुये आप को बमशवरा लायक़ मुसन्नफ़ीन किताब में मंदर्ज मज़मून को दुरुस्त कराने में कोई एतराज़ न होगा। हमारा मनशा इस से महज़ यह है कि तुलबा के दिलों पर ग़लत वाक़यात नक़्श न हों। किसी क़िस्म का झगड़ा करना हमारा काम नहीं और नाही हम इस क़िस्म के बहस मुबाहिसों को पसंद ही करते हैं। अगर आप कम अज़ कम दूसरे एडीशन में भी दुरुस्त मज़मून का दरज़ करना मनजूर करलें तो हमारे लिये मूजिबे इत्मीनान होगा। यह निहायत मुनासिब होगा अगर "हाईरोड" के ही तरमीम शुदह मज़मून का तर्जुमा करके दूसरे एडीशन में दरज कर दिया जावे। क्योंकि वह मज़मून जैन धर्म के आलिमों से वाजिब तौर पर पास हो चुका है और इस में किसी को एतराज़ नहीं होसकता।

उम्मीद वासिक़ है कि निहायत जलदी तसल्ली बख़्श

जवाब मरहमत फ़रमा कर मशकूर फ़रमावेंगे।

न्याज़मंद—गोपीचन्द, एडवोकेट,

प्रेज़ीडेण्ट-श्री आत्मानंद जैन सभा,

अम्बाला शहर।"

हम अतीव प्रसन्न हैं कि प्रकाशक और लेखक महोदय ने हमारे इस प्रस्ताव का समुचित अभिनंदन किया और लेख को हमारी ही इच्छानुसार सुधारने का वचन देदिया है। हम उन को धन्यवाद देते हैं। उनके पत्रों की पूरी नक़ल नीचे दी जाती है:—

UTTAR CHAND KAPUR & SONS

LAHORE.

Dated 1-3-1927

To

L. Gopi Chand Jain, Advocate,

President, Shri Atmanand Jain Sabha,

Ambala City.

Dear Sir,

We are in receipt of your letter dated the 28th ultimo. We are really very glad that you have so kindly pointed out certain objectionable pieces in our Dastan-Hind, part I. We have forwarded your letter to the authors with the instructions to change the chapter on Jainism in the light of High Roads of Indian History-Book II.

We assure you that the chapter will be changed in the next edition to your satisfaction. After the author has revised the chapter, we will send you the Mss for approval before we send it to the Press.

Yours faithfully,
UTTAR CHAND KAPUR & SONS,
BOOK SELLERS.

(८)

Jhang,
Dated the 10th March, 1927.

Dear Sir,

I have read with interest your letter, dated 28-2-27, addressed to Messrs: Uttar Chand Kapoor and Sons who forwarded the same to me for necessary action. I can assure you of the fact that your wishes will be fully carried out when the second edition of the book is published.

I am thankful to you for your kindly pointing out the omission.

Yors Sincirely,
(Sd.) Mohammad Nazir
PERSONAL ASSISTANT,
to D. I. JHANG & Author of 'DASTAN-I HIND'.

To.
Gopi Chand, Esquire, Advocate
and President Shree Atmanand Jain Sabha
AMBALA CITY.

भारत-इतिहास

(ले०—रायसाहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए. साहित्यरत्न
जबलपुर, म. प्रां.)

मध्य प्रांत (Central Provinces) में बहुत से स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा होजाने के कारण विद्यार्थियों के लिये एक हिन्दी इतिहास की अत्यन्त आवश्यकता का अनुभव करके ही द्विवेदी जी ने यह प्रयास किया है। शेष पुस्तक से हमारा किंचित् सम्बन्ध नहीं। जैनधर्म के विषय में आपका लेख दूसरे बहुतसे लेखकों से अच्छा है। परन्तु इसमें भी कहीं २ भारी दोष आगये हैं, जिनकी ओर द्विवेदी जी का ध्यान आकर्षित किया गया। द्विवेदी जी ने बड़ी सरलता से इन दोषों का निराकरण करना स्वीकार कर लिया है। हमारे और उनके बीच जो पत्र व्यवहार हुआ है, उस की नक़ल नीचे दी जाती है:—

श्री आत्मानन्द जैन सभा,
अम्बाला शहर
२-१-२६

मान्यवर रायसाहब पं० रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी,
बी० ए०, साहित्यरत्न,
जब्बलपुर (म० प्रां०)

जयजिनेश्वर देव के अनन्तर निवेदन है कि आपका लिखा हुवा भारत इतिहास देखने में आया। आपने अपने प्रांत के

स्कूलों के लिये यह पुस्तक लिखने में जो परिश्रम किया है वह प्रशंसनीय है, विशेष कर प्रस्तावना के निम्न लिखित वाक्यः- "मुझे इस ग्रन्थ के लिखने के लिये बहुत ही थोड़ा समय मिला है। वास्तव में ८ मास के भीतर ही मैंने इसे समाप्त किया है इस लिये इस में कई प्रकार की त्रुटियां रह जाना अनिवार्य है। जो महाशय उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे उनका मैं अनुग्रहीत होऊंगा और यदि द्वितीय संस्करण होसका तो उन्हें दूर करने की चेष्टा अवश्य करूंगा।"

वास्तव में प्रत्येक लेखक को ऐसे ही अपनी सहृदयता और जिज्ञासुता का परिचय देना चाहिये।

इस में कोई सन्देह नहीं कि लेखक महानुभाव अपनी तरफ से कोई कसर उठा नहीं रखते। फिर भी मनुष्यों द्वारा किये गये कार्य में त्रुटियां रह जाना संभव ही है। हमें खेद है कि आप भी इस सार्वलौकिक सिद्धांत के अनुसार धोका खा गये हैं। यद्यपि आपने लिखा है कि "The views of both the modern orientals cholars and those of the orthodox communities on variens historical points have been stated."

फिर भी हम यह लिखने का साहस करते हैं कि जैनधर्म के विषय में आपने पृष्ठ ३७ से ५६ तक जो कुछ लिखा है वह सर्वथा भूलरहित नहीं। हम आपकी सूचना के लिये नीचे वह स्थल

लिखे देते हैं और पूर्ण आशा है कि आप अपनी सौजन्यता और सहृदयता के भावों को काम में लाकर उन पर ध्यान देंगे और अगले संस्करण में उनको शुद्ध कर देंगे।

(१) पृष्ठ ३७–पंक्ति ८–"ये विद्वान् उपनिषदों से निकले हुये दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों का मनन करते और सर्वसाधारण के कर्म्मकाण्ड से चिढ़ते थे।"

जैन फ़िलासफ़ी एक स्वतंत्र फ़िलासफ़ी है। उपनिषदों का इस पर प्रभाव नहीं पड़ा। जैनियों का दावा है कि उनकी यह फ़िलासफ़ी प्राचीनतम है।

(२) पृष्ठ ३८, अन्तिम ३ पंक्तियाँ:—

"पर कई दार्शनिक ऐसे भी थे जो वेदों को भी नहीं मानते थे। ये नास्तिक कहलाते थे, क्योंकि मनुजी ने वेद के न मानने वाले को ही नास्तिक कहा है।"

(३) पृष्ठ ३९–१–पंक्ति सन् ईस्वी से ५० वर्ष पूर्व दो नास्तिकमतों का ज़ोर दिनों दिन बढ़ता जाता था। ये दोनों जैन और बौद्ध मत थे।"

आपका इन दोनों मतों को नास्तिक कहना सर्वथा अनुचित है। वेदों का न मानना ही नास्तिकता का प्रमाण नहीं हो सकता। Islam, Christianity & Sikhism भी तो वेदानुयायी नहीं और नाही वे वेदों का आदर करते हैं, फिर भी आजकल किसी ने उनको नास्तिक कहने का साहस

नहीं किया। जहाँ तक जैनधर्म का इससे सम्बन्ध है हम आप की सूचना के लिये निम्नलिखित पुस्तकें भेज रहे हैं। इनके अवलोकन से आप को सारा भेद खुल जायगा:—

१–जैनास्तिकत्व मीमांसा। *

२–जैममत नास्तिक मत नहीं है।

३–A Review of Heart of Jainism.

(४) पृष्ठ ३६-दूसरा पैराग्राफ़। "पहले कभी पारसनाथ नामक एक तपस्वी ने.....इन नये पंथ में दीक्षित किया।"

यह गलती केवल आपने ही नहीं की, पहले भी लाहौर के मिस्टर गैरट और अब्दुलहमीद एम० ए० यही गलती अपनी हाई रोड्स आफ़ इण्डियन हिस्टरी में कर चुके हैं। हम ने उस के शुद्ध कराने के लिये अपनी १० मार्च १६२५ की अंग्रेज़ी चिट्ठी प्रकाशित की थी, जिस के उत्तर में डी० पी० आई० (डाईरेक्टर शिक्षा विभाग)की जो चिट्ठियां हमें और पुस्तक प्रकाशकों को प्राप्त हुई उन की नकलें साथ हैं। आप इस से हमारी सफलता का अनुमान कर सकते हैं।

डाइरेक्टर साहेब के आदेशानुसार जो नया शुद्ध लेख उस पुस्तक में लगाया जा रहा है (वह अभी विलायत में छप रहा है) और जो पञ्जाब टैक्स्ट बुक कमेटी से स्वीकृत हो चुका है

* यह तीनों पुस्तकें हमारे यहाँ मिल सकती हैं। –प्रकाशक

उसकी भी एक नक़ल आपकी सेवा में भेज रहे हैं।

(५) पृष्ठ ४० पंक्ति ५—"किसी किसी का कहना है कि बङ्गाल के पारसनाथ पर्वत के शिखर पर १०० वर्ष की पूर्ण अवस्था में वे निर्वाण पद को प्राप्त हुये"—यह सर्वथा अशुद्ध है। जैन धर्म की ऐसी मान्यता नहीं।

"पटना ज़िले के पावा (पावापुरी) नामक स्थान में सन् ईस्वी से पूर्व (सन्) ५२७ में" उनका निर्वाण होना ठीक है और सभी को मान्य है। हमारे सभी ट्रैक्टों पर वीर संवत् (श्री वीर निर्वाण संवत्) छपा है।

दूसरे श्री महावीर स्वामी की आयु ७२ वर्ष की थी १०० वर्ष की नहीं। प्रचलित इतिहास और जैनों का कल्पसूत्र इस बात का प्रमाण है। १०० वर्ष की आयु तो श्री पारसनाथ जी की थी और सम्मेद शिखर पर उन्हीं का निर्वाण हुआ था।

(६) पृष्ठ ४० पैरा दूसरा—"पारसनाथ ने महावीर से २०० वर्ष पूर्व.....(जन्म लिया)"—यहां २०० के स्थान में ३५० चाहिये।

(७) पृष्ठ ४१-पंक्ति २-"खरापन"-यह शब्द ठीक नहीं। जैनों का तीसरा महाव्रत "अदत्तादान" या अचौर्य है, जिस के स्पष्ट अर्थ चोरी न करना है।

(८) पृष्ठ ४१–पंक्ति ६–"श्री देवार्धिगणि सभांत" नामक श्रमण–में श्री देवर्द्धि गणी क्षमा श्रमण चाहिये। भला सभांत भी कभी किसी पुरुष का नाम हुआ है या हो सकता है?

आप इस पत्र से समझ ही लेंगे कि चूंकि हमारा सम्बन्ध केवल जैनधर्म से है, अतः हमें इस सम्बन्धमें जो कुछ अनुचित प्रतीत हुआ हमने लिख दिया है।

अन्य लेखकों की तरह आपने कट्टर सनातनधर्मी होते हुये भी अन्य धर्म प्रवर्त्तकों के लिये शुष्क और तिरस्कार युक्त शब्दों का प्रयोग नहीं किया। इसके लिये हम आपको साधु वाद कहते हैं और आभार भी मानते हैं। हमें आशा है कि आपभी हमारे इस पत्र को उसी प्रकार सच्चे हृदय से स्वीकार करेंगे, जिस प्रकार हमने लिखा है।

ऊपर लिखी पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ हैंडबिल और पुस्तकें हम और भेज रहे हैं जिन के अनुशीलन से आपको बड़ा लाभ होगा।

किसी निश्चय पर पहुँचने से पहले यदि आपको और किसी पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत हो तो आप निःसंकोच हमें लिखें। हम सब प्रकार की सामग्री आप तक पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे। इन पुस्तकों में भी यदि आपको कोई बात भ्रमपूर्ण प्रतीत हो या जिसमें आपको सन्देह हो उसके विषयमें आप सहर्ष हमें सूचना दें।

भवदीय शुभचिंतक–प्रधान

इस के उत्तर में विलम्ब हुआ जानकर हमने श्री द्विवेदी जी को पुनः स्मरण कराया। इस पर उनका निम्न लिखित उत्तर प्राप्त हुआः—

Kasturchand Hitkarini
Sabha High School,

JUBBULPORE,
8--2--1927,

Dear Sir,

I wonder why my post card in reply to yours has not reached you. I sent it just before receipt of your registered letter and hoped that it must have been delivered. I now learn from your post card dated the 5th inst that you have not yet received it. It was addressed to the manager (व्यवस्थापक) the Jain Tract Society, Ambala City, Punjab. Perhaps this address is at the bottom of the non-delivery.

You need not entertain the idea that I have been discourteous to you. I never dreamt of it. The fact is that aince Novr. last I have been dangerously ill and though I am now convalescent I am still very weak and work very little, under medical advice. It is against that advice that I sent you that post card and am writing this letter. When your pamphlets were read here I was not allowed to read them.

Except a few minor points there is nothing serious against Jainism or any other religion in Bharat Itihas. I am, however, prepared to rectify these defects after due consideration in the next edition . This was also your original wish. Where I can not agree with you I will gladly add your opinion in a foot-note.

You have yourself acknowledged that though a Sanatanist I have not been offensive to the Jains or Jainism. In fact I am not a bigot and have the highest respect for each and every faith which leads to higher life. I have some of my best friends and pupils in the Jain community.

I donot see any reason why you should go to the press and not adhere to your previous suggestion that the mistakes or misstatements, as you call them; should be rectified in the next edition of the book.

I shall be glad to hear, if you have any thing more to say on this point. How well disposed I am towards Jainism will appear from the fact that the Jains (mostly Porwars) in Jubbulpore elected me as President of their Hostel Committee and I filled that post for many years. I am still a member of their local organisation.

Yurs truly,

(Sd.) R. P. Duivedi.

इनके पत्र का भावार्थ यह है:—

"……आप यह कभी ख्याल न करें कि मैंने आपसे अनुचित व्यवहार किया है। मुझे तो स्वप्न में भी ऐसा विचार नहीं है। मैं कुछ दिनों से बीमार था। अब यद्यपि कुछ अच्छा हूँ, परन्तु डाक्टरों के कथनानुसार लिखने पढ़ने का कार्य नहीं कर रहा हूँ।

मेरी पुस्तक में कुछ छोटी २ बातों के अतिरिक्त जैन धर्म या अन्य किसी धर्म के विरुद्ध कोई लेख नहीं है। तथापि मैं विचार पूर्वक अगले संस्करण में आपकी इच्छानुसार संशोधन करने के लिये तैयार हूँ। जहां मैं आपसे सहमत न हो सकूँगा मैं सहर्ष नीचे नोट में आपकी सम्मति दरज कर दूंगा

आपने स्वयं इस बात को माना है कि सनातनी होते हुए भी मैंने जैन और जैन धर्म पर कोई आक्रमण नहीं किया। वास्तव में मैं कट्टर नहीं हूँ और सभी मोक्ष-पथ-प्रदर्शक धर्मों के लिये मेरे हृदय में सन्मान है। मेरे बहुत से मित्र और शिष्य जैन धर्मानुयायी हैं।

मैं अखबारों में लिखने लिखाने की कोई आवश्यकता नहीं समझता……

आशा है कि दूसरे संस्करण में यह सब दोष दूर हो जायेंगे।"

हम श्री द्विवेदी जी की सहृदयता और गुण ग्राहकता के लिये

उनको अनेकानेक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमारा विश्वास है कि यदि सभी लेखक महानुभाव इसी प्रकार सत्य की शोध के लिये तत्पर रहा करें तो हमारी उन्नति कुछ दूर नहीं है।

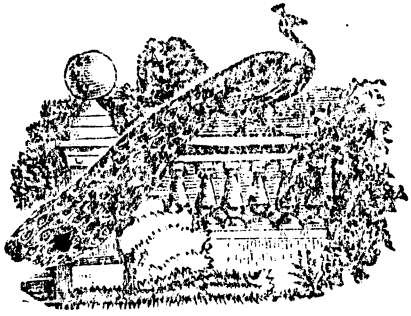

भारतवर्ष का इतिहास

भाग पहला

(लेखक—लाला लाजपतराय जी)

——o——

आप की पुस्तक में भी जैन धर्म पर बहुत कुछ कीचड़ फैंका गया है। आपके लेख के विरुद्ध यहां से पत्रों में बहुत कुछ लिखा गया, भारी आन्दोलन किया गया, परन्तु अब दो या तीन वर्ष के पश्चात् लाला जी ने कुछ दबी आवाज़ से उन को सुधारने का वचन दिया है। उन की पुस्तक में क्या दोष हैं इस बात का सविस्तर ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी पुस्तक "लाला लाजपतराय और जैनधर्म" देखिए।

२८-१०-२६ को लाला जी अम्बाला शहर पधारे थे। हम ने उन से मिलकर इस सम्बन्ध में बात चीत करना चाही, परन्तु लाला जी न मिल सके। फिर हमारे और उन के बीच जो पत्र व्यवहार हुआ उस की पूरी नक़ल नीचे दी जाती है।

"मान्यवर श्रीमान् लाला लाजपतराय जी !

जय जिनेश्वरदेव ! अरज़ यह है कि आप अम्बाला शहर में तशरीफ लाये। लोकल जैन बिरादरी के २५ के करीब

नुमाइन्दगान ने बतौर डैप्युटेशन आप से मिलने की ख्वाहिश ज़ाहिर की और आप से मुलाक़ात के लिए वक़्त मांगा। आप ने फ़रमाया कि आप पौने सात बजे शाम तक ठहरेंगे और बाद अज़ां अम्बाला छावनी जावेंगे। आप ने पहिले तो सिर्फ एक ही शख्स को मिलने की इज़ाजत देनी चाही, मगर बाद में हमारे आदमी की दरख्वास्त पर पूरे डेप्युटेशन को ही इजाज़त दे दी जिस के लिए हम मशकूर हैं।

हम पौने छः बजे के क़रीब स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ आप मौजूद न थे। आप के मुलाज़िम से दर्याफ्त करने पर पता मिला कि आप हम से कुछ वक़्त पहिले ही बज़ारिया मोटर छावनी तशरीफ ले गये हैं और अपने मुलाज़िम को हिदायत दे गए हैं कि वह असबाब बजरिया तांगा छावनी ले आवे। हमें मायूस वापिस आना पड़ा। लेकिन बाद में यह भी मालूम हुआ आप साढ़े छः बजे के क़रीब भी अम्बाला शहर स्टेशन पर थे। चूंकि वक़्त तंग था, इस लिए हम शरफे मुलाक़ात हासिल न कर सके।

आप को इस मौके पर तकलीफ़ देने का खास मक़सद यह था कि हम यह जानना चाहते थे कि आपने अपनी किताब 'तारीख हिन्द' हिस्सा अव्वल में जैनधर्मके मुतअल्लिक जो कुछ लिखा था और जिस पर जैनियों ने फ़र्दन २ और मुत्फ़िकका तौर पर सख्त एतराज़ किया था उस की दुरुस्ती

के लिए क्या फैसला किया है? आपने वादा किया था कि आप बम्बई की आल इण्डिया जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस से इस सिलसिले में ख़तो किताबत कर रहे हैं और उन से तसफिया हो जाने पर आप अपना फैसला शाया कर देंगे या दूसरे एडीशन में दुरुस्ती कर देंगे, पस इस वक़्त जबकि मुद्दत हुई कान्फ्रेंस की भी सब कार्रवाई मुकम्मल हो चुकी है और वह किताब की शकल में छपकर शाया भी हो चुकी है और ग़ालिबन आप के पास पहुंच चुकी होगी, हम यह जानना चाहते थे कि अब आप अपने ग़लत बयानात की तरदीद में क्या कहना चाहते हैं। बराय मेहरबानी आप मुफ़स्सिल हालात से आगाह फरमावें अगर आप मुनासिब समझें तो किसी वक्त हमें अम्बाला शहर या छावनी के स्टेशन पर मिलने की इजाज़त दें। हम आप के मशकूर होंगे।

न्याज़मन्द

ह० गोपीचन्द वकील

प्रधान

(लाला जी का उत्तर)

लाहौर, यकम नवम्बर, १९२६।

लाला गोपीचन्द साहिब!

आप की रजिस्टरी शुदह चिट्ठी मुतअल्लिका मेरी तारीखे हिन्द मुझे अभी मिली है, मैं आप को यह इत्तला देना चाहता

हूँ कि मेरी 'तारीखेहिन्द' का पहिला एडीशन ख़तम हो चुका है और मुझे उस का दूसरा एडीशन तैयार करने की फ़ुरसत नहीं हुई। जिस वक्त मैं दूसरा एडीशन तैयार कर के शाया करूँगा, उस वक्त मैं जैनधर्मके मुतअल्लिक जो कुछ मैंने लिखा है उस पर नज़रसानी करके उस में ज़रूरी तबदीलीकर दूँगा। अगली दफ़ा मैं अम्बाला शहर या छावनी आऊँगा तो आप के दर्शन करूँगा।

आपका न्याज़मन्द

ह० लाजपतराय

लाला जी का इस विषय में अंतिम लेख इस प्रकार है:—

"जैन बिरादरी के एतराज़ात मेरे खिलाफ़"

(अज़ लाला लाजपतराय जी)

यह बात मेरे नोटिस में लाई गई है कि जो चन्द बयानात मैंने अपनी तारीख़ हिंद मतबूआ सन् १९२२ ई० में जैन धर्म व जैनियों के संबंध में किये थे, उनकी बिनापर जैनियों को मेरे बरखिलाफ़ मुशतअल करके उनसे चन्द एलान मेरे बरखिलाफ़ निकलवाये गये हैं। यह कार्रवाई उन कौम परस्तों की तरफ से की गई है जिनका अपना मज़हब कुछ नहीं, जैनी होना तो दर किनार। लेकिन मेरा हिसाब साफ़ है, इस लिये मुझे भरोसा है कि जैनी साहबान इस मुआमले में गुस्सा से काम न लेंगे और ज़रा विचार करेंगे कि असल मुआमला क्या है।

मेरी तारीखहिंद सन् १९२२ ई० में शाया हुई थी, जब मैं जेल में था। मैंने उस का मसव्विदा जेल में ही तैयार किया था, ताहम मैं उसके किसी हिस्से की ज़िम्मेवारी से इनकार नहीं करता। जब मैं जेल से रिहा हुआ तो जैनी साहबान ने मेरी तहरीर की बाज़ बातों पर एतराज़ किया जिसका जवाब मैंने एक चिट्ठी के ज़रीये लाला टेकचन्द जैनरल सैक्रेटरी जैन भा, जंडियाला गुरु के नाम भेजा और उसकी नक़ल अख़बार "बंदे मातरम्" मुवर्रिखा १४ अक्तूबर सन् १९२३ में शाया करादी। उन के जवाब के बाज़ हिस्से दर्ज किये जाते हैं। उसमें मैंने तहरीर किया था:—

(१) "मैं जैन बज़ुर्गों के त्याग और जैन धर्म की अहिंसा वृत्ति का मद्दाह हूँ"

(२) अगर धार्मिक सिद्धान्तों के मुतअल्लिक कहीं कोई ऐसा बयान मेरी तारीख़ में मौजूद हो जो हक़ीक़त के ख़िलाफ़ हो और जो आप साहिबान की दिलाज़ारी का मूजिब हुआ हो तो मैं उसकी तलाफ़ी करने के लिये तैयार हूँ। और उसका बेहतरीन तरीक़ा मुझे यह मालूम होता है कि आप इनके मुतअल्लिक एक मुख़तसिर सा बयान लिख कर मेरे पास भेज दें, मैं तारीख़ मज़कूर की दूसरी अशाअत में उसको बतौर नोट आप की तरफ़ से शाया कर दूंगा।"

उसके बाद मैं यकेबाद अज़ दीगरे उन सात एतराज़ात

का हवाला दिया है जो जैनी साहबान ने मेरे बयानात पर किये हैं:—

अव्वल यह है कि जैन मज़हब की बुनियाद महात्मा पारसनाथ जी ने डाली । जैनी साहबान का यह बयान है कि अव्वल बानी जैन धर्म ऋषभ देव जी थे। जैनियों के २४ तीर्थङ्कर हुए जिन में २३ वें महात्मा पारसनाथ जी और २४ वें महावीर स्वामी थे । मुझे इस बयान के दरज करने में कोई एतराज नहीं।

दूसरा फिक़रा जैन धर्म व बुद्ध धर्म के पोलीटिकल असरात के मुतअल्लिक था । इस से मेरा हरगिज़ मनशा यह न था और न है कि जैन धर्म की तौहीन की जावे. अपनी किताब सुफहा १८१ पर मैंने यही राय वेदांत के मुतअल्लिक भी ज़ाहिर की है।

(३) एतराज़ यह था कि मैंने लिखा है कि जैन धर्म की तालीम बुद्ध धर्मके मुशाबह है। इसमें मुझे कोई अमर क़ाबिले एतराज़ मालूम नहीं होता।

(४) चौथा एतराज़ इस बयान पर था कि जैनी ईश्वर की हस्ती नहीं मानते। जैनी साहबान कहते हैं कि हम ईश्वर की हस्ती तो मानते हैं. मगर उसको कर्त्ता नहीं मानते। यह सबाल सिद्धान्त का है इस में कोई अमर दिलाज़ारी का नहीं और न मुझे इस में कोई दख़ल देने की ज़रूरत है।

(५) बुद्ध धर्म के साथ २ जैन धर्म शुरु हुआ,-इस की तशरीह फ़िक़रा नं० १ में हो गई।

(६) ज्यादहतर एतराज़ इस फ़िक़रे पर था मैंने इस के मुतअल्लिक यह तहरीर किया था:—

जैनियों का सब से बड़ा अखलाकी उसूल है कि कोई किसी को तकलीफ़ न दे। इस उसूल को जैनियों ने इस दरजे तक पहुँचाया है कि जैनी होना बाज़ लोगों की निगाह में पूरे दरजे की बुज़दिली है। लेकिन जैनी विद्वान् धर्मयुद्ध में लड़ने को पाप नहीं समझते।"

मैंने इसके जवाब में यह अरज़ किया था कि मैंने यह ख़्याल सिर्फ चंद आदमियों की निसबत मनसूब किया है। और अपना ख्याल जाहिर नहीं किया। मेरा मतलब हरगिज इस फ़िक़रे से यह न था कि मैं जैनियोंकी तौहीन करूं क्योंकि मैंने इसके साथ ही यह भी लिख दिया था कि जैनी साधु बाक़ी तमाम फिरक़ों के साधुओंके मुक़ाबिले में ज्यादह रास्त-बाज़, ज्यादह त्यागी और ज्यादह बे गरज़ हैं"

इससे मालूम होगा कि जैनी साधुओं व बज़ुर्गों के लिये मेरे दिल में किस क़दर श्रद्धा भक्ति है। मैं किसी की भी दिलाज़ारी करना नहीं चाहता और मुझे इस फ़िक़रे को दूसरे एडीशन में से निकाल देने में कोई एतराज़ न होगा।

नं० ७ की बाबत मैं इसब जैल लिख चुका हूँ:-

"मैं इस फ़िक़रे को निकालने के लिये तैयार हूँ, क्योंकि मैं यह दुरुस्त ख्याल नहीं करता कि चंद अफ़राद की कार्रवाई से तमाम जमाअत को मत्तऊन क़रार दिया जाये। यह फ़िक़रा सहवन लिखा गया है।"

यह तमाम फ़िक़रात अक्तूबर, १९०३ के ख़त में दरज हैं। असल वजह जैनी साहिबान की ख़फ़गी की यह है मैंने अभी तक दूसरी एडीशन शाया करके यह दुरुस्तियां नहीं कीं। जिसका सबब यह है कि मैं इस अरसा में ज्यादहतर बीमार रहा और अदीमउल फ़ुरसत भी रहा। मेरी किताब का हिंदी एडीशन ख़तम हुए ज़ायद अज तीन साल हो चुके हैं। उर्दू की भी सिर्फ चंद कापियां बाक़ी हैं। नया एडीशन शाया न करने से मेरा अपना नुक़सान हो रहा है। मैं पुरानी तारीख को दो बारह इसी शकल में शाया करना नहीं चाहता, क्योंकि जदीद तहक़ीकात से कई ऐसी बातें मालूम हुई हैं जिनका नए एडीशन में दरज करना या जिनके हवाले से मज़मून किताब का दुरुस्त करना ज़रूरी है।.....

...मैं तो इस वक्त किसी मजहबी सोसायटी का मेम्बर नहीं हूँ और मेरे लिये हिन्दू क़ौम के सब फ़िरक़े व संप्रदाय क़ाबिले इज्ज़त हैं, मैं सब की ख़िदमत करना चाहता हूँ, किसी की दिलाज़ारी करना या किसी के खिलाफ़ ताअस्सुब फैलाना

मेरा काम नहीं। मैं इसको सख्त नफ़रत की निगाह से देखता हूँ।

'बंदेमातरम्' लाहौर
१६-११-२६ पृष्ठ ७

राक़म—
लाजपतराय।

लाला जी का अन्तिम पत्र ६-१२-२६ "बन्देमातरम्" में इस प्रकार छपा है:—

"पंजाब के हिन्दू वाटरों की ख़िदमत में मेरा शुकरिया"

(अज़ लाला लाजपतराय जी)

".....मुख्तलिफ़ मुक़ामात पर मेरे दोस्तों ने मेरे लिए काम किया, उन का मैं अज़हद मशकूर हूँ। इस हलक़े में मेरे जैनी भाइयों का मुझ से मुशतअल करने की बहुत कोशिश की गई जिस में किसी क़दर कामयाबी मेरे मुख़ालिफ़ को हुई। जैनियों से मेरा कोई पोलिटिकल इख्तिलाफ़ नहीं। अपनी मुअल्लिफ़ा तारीख़ हिन्द में जो नुक़्ताचीनी मैंने उन के मज़हब पर की है, उसकी बिना पर उन का मुझ से नाराज़ी है जो सन् १६२२ से चली आती है। मैंने १६२३ में इसका जवाब दे दिया था और जिस क़दर हिस्सा ग़लत था उस की ग़लती या नामुनासिबपन को तसलीम कर लिया था। इस मौक़े पर बहुत से बरगज़ीदा जैनी लीडरों को एक पोलिटिकल जद्दोजहद में इस नाराज़ी को लाना बुरा मालूम हुआ और उन्होंने अपने हम मज़हब भाइयों को यह अमर जतलाया। ताहम

मेरे मुख़ालिफ़ फ़रीक़ के बोर्डरान की माक़ूल तादाद इस मज़हब से ताअल्लुक़ रखनेवालों की है। मैं अपने जैनी भाइयों को यक़ीन दिलाता हूं कि उन के इस फ़ेल से मेरे दिल में उन की तरफ़ से कोई नाराज़गी नहीं है। मैं उन का सच्चा दोस्त हूँ हमेशा से था और हमेशा रहूंगा और अगर उनको ख़ास तौर पर कभी मेरी ख़िदमत की ज़रूरत हो तो मैं इस को तनदही से बजा लाऊँगा। जिस क़दर ग़लती मैंने तसलीम की है, उस की तलाफ़ी भी मैं ज़रूर कर दूँगा। इस लिए नहीं कि कभी फिर शायद मुझे उन की इमदाद की ज़रूरत हो बल्कि इस लिए कि ख़िदमतगुज़ारी और इक़बाल ग़लती और ग़लतीके लिये तलाफ़ी करना मैं अपनाधर्म समझता हूँ। जिन जैनी बज़ुर्गों ने उसूलन् इस मौक़े पर मेरी मदद की उनका मैं दिल से मश्कूर हूँ।"

इस पत्र से तो कुछ संतोष होता है। आशा है कि लाला जी शीघ्र ही इन त्रुटियों को दूर कर देंगे।

(६)

भारतवर्ष का इतिहास—भाग पहला

(लेखकः—श्रीयुत ब्रजमोहनलाल शर्मा)

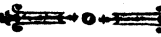

भारत इतिहास की यह पुस्तक हाल ही में (१९७) में नवल किशोर प्रेस' लखनऊ से प्रकाशित हुई है। पुस्तक हिंदी भाषा में है। इसके लेखक हैं श्री ब्रजमोहन शर्मा एम० ए०, बी० एस० सी०, एम० आर ए० एस०।

आपकी पुस्तक में भी जैन धर्म का वर्णन सर्वथा दोष रहित नहीं है। इस में क्या त्रुटियां हैं, यह निम्न लिखित पत्र से जो लेखक महोदय की सेवा में लिखा गया था, विदित हो जायगा।

श्री आत्मानंद जैन सभा
अंबाला शहर।
१५-६-२७

श्रीयुत ब्रजमोहन शर्मा, एम० ए०, बी० एस० सी०,
एम० आर० ए० एस०
C/o मैनेजर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

श्री मान् जी, जय जिनेश!

आपका "हाई स्कूल कक्षाओं के लिये" लिखित "भारत वर्ष का इतिहास—प्रथम भाग" देखने में आया।

न जाने क्या कारण हैं कि भारतवर्ष के इतिहास में जैन धर्म के साथ बहुत कम न्याय का बर्ताव होता है । इतिहास लेखक बिना देखे भाले पाश्चत्य विद्वानों के लेखों का, जिनका भ्रम पूर्ण होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, अनुवाद करडालते हैं और स्वयं वस्तुस्थिति का विचार करने, नई नई खोजों से लाभ उठाने और मध्यस्थ भाव से उस के गुण दोषों का विचार करने का कष्ट नहीं उठाते । शोक है कि हमें आप की पुस्तक को भी इसी श्रेणी में रखना पड़ता है । क्यों ? सुनिये ।

कुछ लिखने से पहिले हम यह साफ २ बता देना चाहते कि इस पत्र द्वारा आप को नितान्त सत्य बातें बतला कर उन को अपनाने के लिये आप से सविनय अनुरोध करना ही हमारा अभिप्राय है, इस के अतिरिक्त कुछ नहीं । हमें पूर्ण विश्वास है कि आप उसी सद्भाव से हमारे शब्दों पर विचार करेंगे-जिस से यह पत्र लिखा गया है ।

आप ने पृष्ट ६६ से ८२ तक बौद्ध और जैन मत का वर्णन किया है । उस में निम्न लिखित वाक्य भ्रमास्पद और संशोधनीय हैं

[redacted] उस बालक ने पारसनाथ नामक साधु के [redacted] किया । कुछ समय तक इस पंथ में रहा परन्तु उस के हृदय को शांति न मिली और उक्त पंथ को छोड़कर नवीन पंथ चलाने के कार्य में निमग्न हो गया । उस समय

वर्धमान की आयु ४० वर्ष के लग भग थी। धीरे २ उस के शिष्य बन गये। वर्धमान ने जो मत चलाया वह जैन धर्म के नाम से विख्यात हुआ.....(पृष्ठ ६६, पंक्ति १७)

२—ये २४ जिन की पूजा करते हैं और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। पृष्ठ ७७ पंक्ति ११, पृष्ठ ८० पंक्ति, १६

३—दोनों ही मत लगभग एक ही समय पर और एक ही प्रदेश से आरंभ हुए (पृष्ठ ८० पंक्ति १५)

४—निर्वाण के अर्थ के अतिरिक्त जैनीलोग नितांत नास्तिक हैं (इस वाक्य का आशय हमारी समझ में कुछ नहीं आया)

इन आक्षेपों का सविस्तर उत्तर देने की कदाचित आवश्यकता नहीं, निम्न लिखित पुस्तकें आप की सेवा में भेजी जाती हैं। इन के अवलोकन से आप के सभी संशय दूर हो जावेंगे, ऐसा हमें निश्चय है।

मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि कदाचित यही आक्षेप दूसरे तीन चार इतिहासों में भी देखने में आये हैं। उनसे पत्र व्यवहार किया गया और उन सबने या तो इन्हें हमारी इच्छानुसार शुद्ध कर दिया है या ऐसे [redacted] दिया है। यहां तक कि पञ्जाब के शिक्षा [redacted] बातको सुन कर हमें आभारी किया है। यह [redacted] पुस्तकरूप में छप रहा है।

आशा है कि आप भी ऐसा ही बर्ता
यता का परिचय देंगे।

भवदीय—

गोपीचन्द, प्रधान

इस पत्र का जो उत्तर प्राप्त हुआ है उसकी नक़ल भी
दीजाती है:—

GANESH GANJ,

LUCKNOW, 24-9-27

Dear Sir,

When I came down from the hills I got your letter of the 15th June, 27, and a parcel containing a few pamphlets As I was busy writing part II of my History of India I could not go through these pamphlets.

I am now in receipt of your reminder of the 18th instt: I shall very soon read the pamphlets carefully and then send you a detailed reply. I have only read them here [illegible] and am afraid I do not find any thing [illegible] change my views as I have expressed them [illegible] my book part I.

Weuld you please let me know clriefly and dearly what particular expressions you consider untrue in

Psrt I, about the doctrines of

With best regards

Yours Sincerely,

भावार्थः—आप का पत्र और पुस्तकें मिलीं। इनको मैं भली भाँति पढ़ नहीं सका। इनको पढ़ कर मैं शीघ्र ही सविस्तृत उत्तर दूँगा। अभी तक तो मुझे कोई ऐसी बात नज़र नहीं आई जिससे मैं अपने विचारों में कुछ परिवर्तन करूं। आप मुझे संक्षेप में भूमात्मक स्थल लिख भेजिये, मैं सहर्ष विचार करूंगा।"

अभी इनके साथ पत्र व्यवहार हो रहा है। हमें आशा है श्रीयुत् शर्म्मा जी अवश्य ध्यान देंगे।

(प्रधान)